आशीर्वचन

विश्वज्योति श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण-शताब्दी के सुनहरे अवसर पर चौवीस तीर्थंकरों का संक्षेप में परिचय देने वाला ग्रन्थ तय्यार किया जाय—यह मेरी हार्दिक इच्छा थी। मेरी भावना को लक्ष्य में रखकर राजेन्द्र मुनि ने प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाश में प्रस्तुत ग्रन्थ का आलेखन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तीर्थंकरों के तेजस्वी व्यक्तित्व व ओजस्वी कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। मुनि राजेन्द्र का यह प्रयास स्तुत्य है, अभी उसने लेखन क्षेत्र में प्रवेश-किया है, भविष्य में वह अधिक से अधिक सुन्दर अध्ययन पूर्वक शोधप्रधान तुलनात्मक ग्रन्थ लिखे, यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

—पुष्कर मुनि

प्रकाशकीय

अपने चिन्तनशील प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में 'चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण' ग्रन्थ-रत्न समर्पित करते हुए अत्यन्त आह्लाद है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों की जीवनगाथा के साथ तत्कालीन परिस्थिति व प्रभाव आदि का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। चौबीस तीर्थंकरो के जीवनवृत्त आदि को जानने के लिए यह ग्रन्थ सर्चलाईट की तरह उपयोगी है। लेखक ने 'सागर को गागर में' भरने का प्रयास किया है, जो स्तुत्य है।

हमारी चिरकाल से इच्छा थी कि चौबीस तीर्थंकरो पर ऐसा कोई ग्रन्थ हो जिससे पाठकों को पूरी जानकारी हो सके। हमने अपनी जिज्ञासा उदीयमान साहित्यकार श्री राजेन्द्र मुनिजी के समक्ष प्रस्तुत की और उन्होंने स्वल्प समय में ही हमारी भावना के अनुरूप ग्रन्थ को तय्यार कर दिया। राजेन्द्र मुनिजी, श्रद्धेय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्ध जैन साहित्यकार शास्त्री श्री देवेन्द्र मुनिजी के शिष्य हैं। आपने इसके पूर्व, राजस्थान केसरी 'श्री पुष्कर मुनि जी महाराज : जीवन और विचार', 'भगवान महावीर की सूक्तियाँ', 'भगवान महावीर : जीवन और दर्शन', 'लार्ड महावीर', 'मेघकुमार : एक परिचय' आदि अनेक पुस्तकें लिखी हैं और 'सोलह सती', 'जम्बू स्वामी : एक परिचय', 'जैनधर्म', 'अहिंसा : एक अनुशीलन' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वे यथाशीघ्र प्रकाशित होंगे। मुनि जी स्वभाव से मधुर, मिलनसार व कार्य करने मे कुशल हैं। आप श्री ने, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, शास्त्री आदि अनेक परीक्षाएँ भी समुत्तीर्ण की हैं। आप श्री से भविष्य में समाज को अनेक आशाएँ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में जिन उदार दानी महानुभावों ने उदारता के साथ सहयोग प्रदान किया, उनका हम हृदय से आभार मानते हैं। साथ ही ग्रन्थ को मुद्रणकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने वाले स्नेह-मूर्ति श्रीचन्द जी सुराना का भी हम हार्दिक आभार मानते हैं।

मन्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर

'रुणवाल परिवार : एक परिचय'

राजस्थान के गौरवपूर्ण इतिहास में खुड़ी गांव के रुणवाल परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह परिवार अतीतकाल से ही धार्मिक, सांस्कृतिक व सामाजिक क्षेत्र में अग्रगण्य रहा है, इसका इतिहास अत्युज्ज्वल है। खुड़ी गांव से प्रस्तुत परिवार व्यापारार्थ बीजापुर (कर्णाटिक) में आया।

संक्षिप्त में इस परिवार का परिचय इस प्रकार है।

श्रीमान् सेठ किसनलाल जी के ४ पुत्र हुए—श्री चतुरभुज जी, श्री ऋद्धकरण जी, श्री इन्द्रमल जी, श्री पन्नालाल जी। वर्तमान में जो रुणवाल परिवार है, वह चतुरभुज जी, ऋद्धकरण जी तथा पन्नालाल जी का है। श्री चतुरभुज जी के एक पुत्र है—श्री पुसालाल जी। माननीय पुसालाल जी के ६ पुत्र हैं—श्री आईदान जी, श्री छोटमल जी, श्री तेजमल जी, श्री विरदीचन्द जी. श्री गुलाबचन्द जी, श्री फूलचन्द जी। माननीय आईदान जी के ३ सुपुत्र हैं—श्री हेमराज जी, श्री गणेशमल जी तथा श्री पुनमचन्द जी। माननीय छोटमल जी के दो पुत्र है—श्री भीखमचन्द जी तथा रामचन्द जी। माननीय श्री तेजमल जी के ५ पुत्र है—श्री खेमचन्द जी, श्री उदयराज जी, श्री अमृतलाल जी, श्री गणपतलाल जी तथा श्री जवाहरलाल जी।

माननीय विरदीचन्द जी के ३ पुत्र है—श्री लक्ष्मीचन्द जी, श्री नेमीचन्द जी, श्री सुमापचन्द जी। माननीय श्री गुलाबचन्द जी के ४ पुत्र हैं—श्री नथमल जी, श्री वीरेन्द्र कुमार जी, श्री फतेहचन्द जी, श्री महेन्द्र कुमार जी।

माननीय श्री फूलचन्द जी के ३ पुत्र हैं—श्री दीपचन्द जी, श्री नन्दलाल जी, श्री केवलचन्द जी। माननीय श्री ऋद्धकरण जी के श्री कुन्दनलाल जी पुत्र हुए तथा श्री कुन्दनलाल जी के दो पुत्र हैं—श्री भेरुलाल जी एवं श्री ताराचन्द जी। श्री भेरुलाल जी के दो पुत्र है—श्री चम्पालाल जी और श्री सागरमल जी, श्री ताराचन्द जी के भी दो पुत्र है—श्री टीकमचन्द जी तथा श्री शान्तिलाल जी।

श्रीमान् पन्नालाल जी के ३ पुत्र हैं—श्री गिवराज जी, श्री अभेराज जी तथा श्री चुन्नीलाल जी, माननीय श्री गिवराज जी के ४ पुत्र है—श्री प्रेमराज जी, श्री

भागीरथ जी, श्री जीतमल जी श्री मूलचन्द जी। श्रीमान् प्रेमराज जी के ५ पुत्र हैं श्री भंवरलाल जी, श्री हीरालाल जी, श्री अजयराज जी, श्री पारसमल जी तथा श्री दलीचन्द जी। श्रीमान् भागीरथ जी के एक पुत्र है श्री अम्बालाल जी, श्रीमान् जीतमल जी के पुत्र हैं श्री नन्दलाल जी श्रीमान् मूलचन्द जी के दो पुत्र हैं श्री धोंड़ीराम जी, श्री बसन्तलाल जी। श्रीमान् अभयराज के एक पुत्र है श्री राजमल जी, श्री राजमल जी के पुत्र है श्री चन्दुलाल जी। इसी प्रकार श्रीमान् चुन्नीलाल जी के ९ पुत्र हैं। वे क्रमशः इसी प्रकार—श्री उत्तमचन्द जी, श्री दुर्गालाल जी, श्री देवीलाल जी, श्री केसरीमल जी, श्री पुखराज जी, श्री माणकचन्द जी, श्री मोतीलाल जी, श्री सांकलचन्द जी और श्री चन्दुलाल जी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में रणवाल परिवार का जो सहयोग मिला है वह इस प्रकार है—

१००१ श्रीमान् जीतमल जी नन्दलाल जी रणवाल बीजापुर (कर्णाटक)
६२५ श्रीमान् फूलचन्द जी दीपचन्द जी रणवाल „
५०० श्रीमान् अम्बालाल जी भागीरथ जी रणवाल „
५०० श्रीमान् हीरालाल जी प्रेमराज जी रणवाल „
५०० श्रीमान् गुलाबचन्द जी नथमल जी रणवाल „
५०० श्रीमान् तेजमल जी उदयराज जी रणवाल „
२५१ श्रीमान् ताराचन्द जी टीकमचन्द जी रणवाल „
२५१ श्रीमान् भेरुलाल जी चम्पालाल जी रणवाल „
२५१ श्रीमान् राजमल जी हुकमीचन्द जी रणवाल „
१२५ श्रीमान् मूलचन्द जी धोंड़ीराम जी रणवाल „

मैं श्री रणवाल परिवार के इस आर्थिक सहयोग के उपलक्ष में हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

भवदीय
मंत्री
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर

संसार सदा एक ही गति और रूप से संचालित नहीं होता रहता—यह परिवर्तनशील है। 'परिवर्तन' प्रकृति का एक सहज धर्म है। हम अपने अति लघु जीवन-काल में ही कितने परिवर्तन देख रहे हैं? यदि आज भी किसी के लिए कुंभकरणी नींद सम्भव हो तो जागरण पर वह अपने समीप के जगत को पहचान भी नहीं पायेगा। जो कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में लाखों-करोड़ों वर्षों की अवधि में यदि 'क्या का क्या' हो जाय तो कदाचित् यह आश्चर्यजनक नहीं होगा। ये परिवर्तन उत्थान के रूप में भी व्यक्त होते हैं और पतन के रूप में भी। ह्रास और विकास दोनों ही स्वयं में परिवर्तन हैं। साथ ही एक और ध्यातव्य तथ्य यह भी है कि परिवर्तन के विषयों के अन्तर्गत मात्र बाह्य पदार्थ या परिस्थितियाँ ही नहीं आतीं, अपितु मानसिक जगत भी इसके विराट लीला-स्थल का एक महत्त्वपूर्ण किंवा प्रमुख क्षेत्र है। आचार-विचार, आदर्श, नैतिकता, धर्म-भावना, मानवीय दृष्टिकोण आदि भी कालक्षेप के साथ-साथ परिवर्तन प्राप्त करते रहते हैं। मानव की शक्ति-सामर्थ्य भी वर्धन-संकोच के विषय बने रहते हैं। श्रेष्ठ प्रवृत्तियों और मानवोचित सदादर्शों में कभी सबलता आती है तो वे अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर पुनः अधोमुखी हो जाते हैं और इसके चरम पर पहुँच कर पुनः 'प्रत्यागमन' की स्थिति आती है।

लोक कथाओं में एक प्रसंग आता है। किसी श्रेष्ठी पर एक दैत्य प्रसन्न हो गया और उसका दास बन गया। दैत्य में अद्भुत कार्य-शक्ति थी। उसने अपनी इस क्षमता का श्रेष्ठी के पक्ष में समर्पण करते हुए कहा कि मुझे काम चाहिए—एक के पश्चात् दूसरा आदेश देते रहिये। जब मुझे देने के लिए आपके पास कोई काम न होगा, तो मैं आपका वध करके यहाँ से चला जाऊँगा। प्रथम तो श्रेष्ठी बड़ा प्रसन्न हुआ। अभिलाषाओं की अपारता से भी वह परिचित था। और जब प्रत्येक अभिलाषा इस प्रकार दैत्य द्वारा पूर्ण हो जाने की संभावना रखती है, तो श्रेष्ठी अपने सुख-साम्राज्य की व्यापकता की कल्पना में ही खो गया। परम प्रमुदित श्रेष्ठी ने एक के पश्चात् दूसरा आदेश देना आरम्भ कर दिया। दैत्य क्षणमात्र में कार्य सम्पन्न कर लौट आता। ऐसी स्थिति में श्रेष्ठी को अभिलाषाओं की ससीमता का आभास होने लगा। उसका ऐश्वर्य तो उत्तरोत्तर अभिवर्धित होने लगा, किन्तु समस्या यह थी कि वह दैत्य को

आगामी आदेश क्या दे ? उसकी कल्पना-शक्ति भी चुकने लगी। भय था कि आदेश न दिया गया तो दैत्य मेरी हत्या कर देगा। वह दैत्य द्वारा निर्मित स्वर्ण-प्रासाद में भी आतंकित था। उसे प्राणों का भय था और इस कारण समस्त सुखराशि उसे नीरस प्रतीत होती थी। जब अपनी सारी कल्पनाएँ साकार हो गयीं तो श्रेष्ठी ने दैत्य को एक आदेश दिया कि इस मैदान में एक बहुत ऊँचा स्तम्भ निर्मित कर दो। देखते ही देखते उसने इस आज्ञा को पूरा कर दिया। अब श्रेष्ठी ने अन्तिम आदेश दिया कि इस स्तम्भ पर चढ़ो और उतरो। तुम्हारा यह कार्य तब तक चलता रहना चाहिये, जब तक मैं तुम्हें अगला आदेश न दूँ। श्रेष्ठी तो अपनी स्वाभाविक मृत्यु पा गया, परन्तु वह दैत्य बेचारा अब भी स्तम्भ पर चढ़ने-उतरने के क्रम को सतत रूप से चला रहा है। भला यह काम भी कभी समाप्त हो सकता है ?

कुछ ऐसी ही स्थिति इस जगत में धर्म-भावना की भी है। वह विकसित होती है और पुनः संकुचित हो जाती है तथा पुनः विकासोन्मुख हो जाती है। इसका यह अजस्र क्रम भी असमाप्य है। विकास-ह्रास की इस स्थिति को हम सर्प के आकार से भी समझा सकते हैं। पूँछ से फन तक का भाग निरन्तर स्थूल से स्थूलतर होता चलता है और फन से पूँछ की ओर निरन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर। पूँछ से फन की ओर और फन से पुनः पूँछ की ओर की यह क्रमिक यात्रा मानवीय गुणों द्वारा असंख्य वर्षों से होती चली आ रही है। पूँछ से फन की ओर वाली यात्रा 'उत्सर्पिणी काल' है जिसमें शारीरिक शक्ति और सद्‌मनोवृत्तियों, धर्मभावनाओं आदि में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता चलता है। और फन पर पहुँचकर पुनः पूँछ की ओर वाली यात्रा 'अवसर्पिणी काल' है जिसमें इन गुणों में अपकर्ष होता चलता है। ये ही अव-सर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल—दोनों मिलकर कालचक्र को स्थापित करते हैं। यह कालचक्र अबाध गति के साथ अनादि से ही संचालित है और इसका संचालन अनन्त काल तक होता भी रहेगा।

यह काल-चक्र घड़ी के अंक-पट की भाँति है, जिस पर सुइयाँ ६ से १२ तक उन्नत होती चली जाती हैं और १२ से ६ तक की यात्रा में वे पुनः अवनत होती रहती हैं। ६ से १२ की यात्रा को उत्सर्पिणीकाल समझा जा सकता है और १२ से ६ की यात्रा को अवसर्पिणीकाल। सुइयों की यात्रा के इन दोनों भागों में जैसे ६-६ अंक होते हैं—वैसे ही इन दोनों कालों के भी ६-६ भाग हैं जो 'आरा' कहलाते हैं। उल्लेखनीय एक अन्तर दोनों में अवश्य है कि घड़ी के ये सभी १२ विभाग सर्वथा समान हैं, किन्तु आरा-अवधियाँ अपने परिमाण में समान नहीं होतीं। किसी का काल कम है, तो किसी का अधिक।

कालचक्र के इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों कालों में से प्रत्येक के तीसरे और चौथे आरा में २४-२४ तीर्थंकर होते हैं। धर्मभावना की वर्तमान उत्तरोत्तर क्षीणता इसका स्पष्ट प्रमाण है कि इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है। इस काल का यह पाँचवाँ आरा है। इसके पूर्व के २ आरा अर्थात् तीसरे और चौथे आरा में २४

तीर्थंकरों की एक परम्परा मिलती है। इस परम्परा के आदि उन्नायक भगवान ऋषभदेव थे और इसी आधार पर उन्हें 'आदिनाथ' भी कहा जाता है। इसी परम्परा के अन्तिम और २४वें तीर्थंकर हुए हैं—भगवान महावीर स्वामी, जिनके सिद्धान्तों के तीव्र प्रकाश में आज भी भटकी हुई मानवता सन्मार्ग को खोज लेने में सफल हो रही है। २५०० वर्ष पूर्व प्रज्वलित वह ज्योति आज भी अपनी प्रखरता में ज्यों की त्यों है—तनिक भी मन्द नहीं हो पायी है। वस्तुतः भगवान महावीर स्वयं ही 'विश्व-ज्योति' है।

तीर्थंकर-स्वरूप-विवेचना

अब प्रश्न यह है कि तीर्थंकर कौन होते हैं ? तीर्थंकर का स्वरूप और लक्षण क्या है एवं तीर्थंकर की विराट भूमिका किस प्रकार की होती है ? मेरे जैसे साधारण बुद्धि वालों के लिए इसकी समग्र व्याख्या कठिन है। 'गूंगे के गुड़' की भाँति ही मैं तीर्थंकरों की महत्ता को हृदयंगम तो किसी सीमा तक कर पाता हूँ, किन्तु उसके समग्र विवेचन की क्षमता का दावा मेरे लिए दंभ मात्र होगा। तीर्थंकर गौरव अतिविशाल है, उसके नवनवीन परिपार्श्व है—आयाम है, उसकी महिमा शब्दातीत है। जैन शास्त्रीय शब्द 'तीर्थंकर' पारिभाषिक है। अभिधार्थ से भिन्न ग्राह्य अर्थ वाले इस शब्द की संरचना 'तीर्थ' और 'कर' इन दो पदों के योग से हुई है। यहाँ 'तीर्थ' शब्द का लोक प्रचलित अर्थ 'पावन-स्थल' नहीं, अपितु इसका विशिष्ट तकनीकी अर्थ ही ग्राह्य है। वस्तुतः 'तीर्थ' का प्रयोजन है-संघ से। इस धर्मसंघ में चार विभाग होते हैं-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। ये चार तीर्थ है। तीर्थंकर वह है जो इन चार तीर्थों का गठन करे, इनका संचालन करे। इस प्रकार चतुर्विध धर्मसंघ का संस्थापक ही तीर्थंकर है।

वह परमोपकारी, उच्चाशय, पवित्र आत्मा तीर्थंकर है, जो समस्त मनोविकारों से परे हो। अपनी कठोर साधना और घोर तपश्चर्या के बल पर वह केवलज्ञान, केवलदर्शन का लाभ प्राप्त करता है और अन्ततः कालकर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। किन्तु मात्र इतना-सा स्पष्टीकरण ही किसी के तीर्थंकरत्व के लिए पर्याप्त नहीं होता। उक्त कथित क्षमता के धनी तो तीर्थंकर की भाँति सर्वज्ञ और सर्वदर्शी सामान्य केवली भी हो सकते हैं किन्तु उनमें तीर्थंकर के समान पुण्य का चरमोत्कर्ष नहीं होता। दूसरा ज्ञातव्य तथ्य यह है कि सर्वज्ञता के अधिकारी एक ही अवसर्पिणी काल में असंख्य आत्माएँ हो सकती हैं जबकि तीर्थंकरत्व केवल २४ उच्च आत्माओं को ही प्राप्त होता है और हुआ है। अतः तीर्थंकरों के लिए कौन-सी विशिष्टता अतिरिक्त रूप से उपेक्षित होती है—यह विचारणीय प्रश्न है।

वस्तुतः उपर्युक्त अर्जनाएँ, केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर निर्वाण के दुर्लभ पद को सुलभ कर लेने वाले, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त दशा को प्राप्त असंख्य जन 'केवली' है। वे अपनी धर्म-साधना के आधार पर प्रायः स्वात्मा को ही कर्म-बंधन से मुक्त करने में समर्थ है। तीर्थंकर इससे भी आगे चरण बढ़ाता है। वह अपनी अर्जनाओं की शक्ति का जगत के कल्याण के लिए प्रयोग करता है, अपने ज्ञान से सभी को लाभान्वित करता है। वह पथभ्रष्ट मानवता को आत्म-कल्याण के सन्मार्ग पर

आरूढ़ कर उस पर गतिशील रहने के लिए क्षमता प्रदान करता है और असंख्यजनों को मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचने की जटिल यात्रा में अपने सजग नेतृत्व का सहारा देता है, उनका मार्ग-दर्शन करता है। यह सर्वजनहिताय दृष्टिकोण ही केवली को अपनी संकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर तीर्थंकरत्व की व्यापक और अत्युच्च भूमि पर अवस्थित कर देता है।

इस विराट भूमिका का निर्वाह करने वाले इस अवसर्पिणी काल में केवल २४ महिमा सम्पन्न साधक हुए हैं और वे ही तीर्थंकरत्व की गरिमा से विभूषित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपाद्य इन्हीं २४ तीर्थंकरों का जीवन-चरित रहा है। जैन इतिहास में यह वर्ष विशेष उल्लेखनीय रहेगा, जब भगवान महावीर स्वामी के २५सौ वे निर्वाण महोत्सव को समग्र राष्ट्र में उत्साह के साथ मनाया जा रहा है। भगवान के परम पुनीत जीवन का गहन अध्ययन करना, उनके सर्वजनहिताय सिद्धान्तों पर मनन कर उनके प्रति एक परिपक्व समझ विकसित करना, उनको आचरण में ढालना आदि कुछ ऐसे आयाम हैं, जिनके माध्यम से निर्वाण महोत्सव को सार्थकता दी जा सकती है। इस भावना के साथ 'भगवान महावीर : जीवन और दर्शन' शीर्षक एक ग्रन्थ की रचना का साहस लेखक कर चुका था। तभी उसके मन में एक अन्य भावना अँगड़ाइयाँ लेने लगी कि वस्तुत: महावीर भगवान ने जो व्यापक जनकल्याण का अजस्र अभियान चलाया उसके पीछे उनकी क्षमता, शक्ति और सिद्धियाँ तो थीं ही, किन्तु उनके सामने एक विराट् अनुकरणीय आदर्श शृंखला भी रही थी। जहाँ स्वयं के ही जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्मों और श्रेष्ठ संस्कारों की शक्ति उन्हें प्राप्त थी, वहाँ एक सुदीर्घ समुज्ज्वल तीर्थंकर-परम्परा भी उनके सामने रही है। अत: समस्त तीर्थंकरों का चरित-चित्रण प्रासंगिक ही नहीं होगा, अपितु वह भगवान महावीर के चरित को हृदयंगम कराने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पूरक भी सिद्ध होगा।

कुछ इसी प्रकार की धारणा के साथ २४ तीर्थंकरों के जीवन चरित को विषय मानकर मैं प्रयत्न-रत हुआ, जिसने इस पुस्तक के रूप में आकार ग्रहण कर लिया है। मैं उनके जीवन की समग्र महिमा को उद्घाटित कर पाया हूँ—यह कथन मेरी दुर्विनीतता का द्योतक होगा। मैं तो केवल सतह तक ही सीमित रहा हूँ। मोतियों की गहराई तक पहुँच पाने का सामर्थ्य मुझमें कहाँ ? मेरे इस प्रयास में श्रद्धेय गुरुदेव राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी एवं प्रसिद्ध जैन साहित्यकार गुरुदेव श्री देवेन्द्र मुनिजी, मेरे ज्येष्ठ सहोदर श्री रमेश मुनिजी शास्त्री, काव्यतीर्थ का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। जिनकी अपार कृपादृष्टि से ही मैं प्रस्तुत ग्रन्थ लिख सका हूँ। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी अच्छाई है वह सभी पूज्य गुरुदेवश्री की अपार कृपा का ही फल है। साथ ही प्रोफेसर श्री लक्ष्मण भटनागर जी को भी स्मरण किये बिना नहीं रह सकता। जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में आवश्यक संशोधन व सम्पादन किया। श्रीयुत स्नेहमूर्ति सुराना जी ने ग्रन्थ के पुनः अवलोकन, संशोधन एवं मुद्रणकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाया है।

—राजेन्द्र मुनि

प्रस्तावना

भगवान महावीर की पूर्वकालीन जैन परम्परा

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन मनुष्य जीवन के दो अभिन्न अंग है। जब मानव, चिन्तन के सागर में गहराई से डुबकी लगाता है तब दर्शन का जन्म होता है, जब वह उस चिन्तन का जीवन में प्रयोग करता है तब धर्म की अवतारणा होती है। मानव-मन की उलझन को सुलझाने के लिए ही धर्म और दर्शन अनिवार्य साधन हैं। धर्म और दर्शन दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।

महान् दार्शनिक सुकरात के समक्ष किसी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि शांति कहाँ है और क्या है ?

दार्शनिक ने समाधान करते हुए कहा, "मेरे लिए शांति मेरा धर्म और दर्शन है। वह बाहर नहीं अपितु मेरे अन्दर है।"

सुकरात की दृष्टि से धर्म और दर्शन परस्पर भिन्न नही अपितु अभिन्न तत्त्व हैं। उसके बाद यूनानी व यूरोपीय दार्शनिकों मे धर्म और दर्शन को लेकर मतभेद उपस्थित हुआ। सुकरात ने जो दर्शन और धर्म का निरूपण किया वह जैनधर्म से बहुत कुछ संगत प्रतीत होता है। जैनधर्म में आचार के पांच भेद माने गये हैं।[1] उसमें ज्ञानाचार भी एक है। ज्ञान और आचार परस्पर सापेक्ष हैं। इस दृष्टि से विचार दर्शन और आचार धर्म है।

पाश्चात्य चिन्तकों ने धर्म के लिए 'रिलीजन' और दर्शन के लिए 'फिलॉसफी' शब्द का प्रयोग किया है। किंतु धर्म और दर्शन शब्द मे जो गम्भीरता और व्यापकता है वह रिलीजन और फिलॉसफी शब्द से व्यक्त नहीं हो सकती। भारतीय विचारकों ने धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् स्वीकार नही किया है। जो धर्म है वही दर्शन भी है। दर्शन तर्क पर आधारित है; धर्म श्रद्धा पर, वे एक-दूसरे के बाधक नहीं अपितु साधक हैं। वेदान्त में जो पूर्वमीमांसा है वह धर्म है और उत्तरमीमांसा है वह दर्शन है। योग आचार है, तो सांख्य विचार है। बौद्ध परम्परा में हीनयान दर्शन है तो महायान धर्म है। जैनधर्म में मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं—एक अहिंसा, दूसरा अनेकांत। अहिंसा धर्म है और अनेकांत दर्शन है। इस प्रकार दर्शन धर्म है और धर्म दर्शन है। विचार मे आचार और आचार में विचार यही भारतीय चिन्तन की विशेषता है।

---

१ स्थानाङ्ग ५, उद्दे. २, सूत्र ४३२.

ग्रीस और यूरोप में धर्म और दर्शन दोनों साथ-साथ नही अपितु एक दूसरे के विरोध में भी खड़े है, जिसके फलस्वरूप जीवन मे जो आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए वह नही हो पाती।

पाश्चात्य विचारकों ने धर्म मे बुद्धि, भावना और क्रिया—ये तीन तत्त्व माने है। बुद्धि से तात्पर्य है ज्ञान, भावना का अर्थ है श्रद्धा, और क्रिया का अर्थ है आचार। जैन दृष्टि से भी सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों धर्म हैं।

'हेगेल' और 'मैक्समूलर' ने धर्म की जो परिभाषा की है उसमे ज्ञानात्मक पहलू पर ही बल दिया है और दो अंशो की उपेक्षा की है। काण्ट ने धर्म की जो परिभाषा की, उसमें ज्ञानात्मक के साथ क्रियात्मक पहलू पर भी लक्ष्य दिया, पर भावनात्मक पहलू की उसने भी उपेक्षा कर दी। किंतु मार्टिन्यू ने धर्म की जो परिभाषा प्रस्तुत की, उसमे विश्वास, विचार और आचार इन तीनो का मधुर समन्वय है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनों को उसने अपनी परिभाषा में समेट लिया है।

धर्म और दर्शन का क्षेत्र

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से धर्म और दर्शन का विषय सम्पूर्ण विश्व है। दर्शन मानव की अनुभूतियों की तर्कपुरस्सर व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तों की अन्वेषणा करता है। धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का विवेचन करने का प्रयास करता है। धर्म और दर्शन में दूसरी समता यह है कि दोनों मानवीय ज्ञान की योग्यता मे, यथार्थता में, चरम तत्त्व मे विश्वास करते हैं। दर्शन में मेधा की प्रधानता है तो धर्म में श्रद्धा की। दर्शन बौद्धिक आभास है, धर्म आध्यात्मिक विकास है। दर्शन सिद्धान्त को प्रधानता देता है तो धर्म व्यवहार को।

आज के युग मे यह प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म और दर्शन का जन्म कब हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वर्तमान इतिहास की दृष्टि से इनकी आदि का पता लगाना कठिन है। इसके लिए हमें प्रागैतिहासिक काल में जाना होगा, जिस पर हम अगले पृष्ठो पर चिन्तन करेंगे। किन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि दर्शन के अभाव में धर्म अपूर्ण है और धर्म के अभाव में दर्शन भी अपूर्ण है। मानव-जीवन को सुन्दर, सरस व मधुर बनाने के लिए दोनों ही तत्त्वों की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है।

आधुनिक मनीषा को एक और प्रश्न भी झकझोर रहा है कि धर्म और विज्ञान में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यहाँ विस्तार से विवेचन करने का प्रसंग नहीं है। संक्षेप मे इतना ही बताना आवश्यक है कि धर्म का संबंध आन्तरिक जीवन से अधिक है और विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् (प्रकृति) से है। धर्म का प्रधान उद्देश्य मुक्ति की साधना है और विज्ञान का प्रधान उद्देश्य है प्रकृति का अनुसंधान। विज्ञान मे सत्य

की तो प्रधानता है, पर शिव और सुन्दरता का उसमे अभाव है जबकि धर्म में 'सत्यं' 'शिवं' और 'सुन्दरम्' तीनों ही अनुबंधित हैं।

जैनधर्म

जैनधर्म विश्व का एक महान् धर्म भी है, दर्शन भी है। आज तक प्रचलित और प्रतिपादित सभी धर्म तथा दर्शनों में यह अद्‌भुत, अनन्य एवं जीवनव्यापी है। विश्व का कोई भी धर्म और दर्शन इसकी प्रतिस्पर्धा नही कर सकता। इसमें ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह आज भी विश्व के विचारकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यहाँ पर स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि प्रस्तुत विचारणा के पीछे विशुद्ध सत्य-तथ्य की अन्वेषणा ही प्रमुख है, न कि किसी भी धर्म के प्रति उपेक्षा, आक्षेप और ईर्ष्या की भावना।

सहज ही प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म और दर्शन यदि इतना महान् व श्रेष्ठ है तो उसका अनुसरण करने वालों की संख्या इतनी अल्प क्यों है ? उत्तर में निवेदन है कि मानव सदा से सुविधावादी रहा है; वह सरल मार्ग को पसंद करता है, कठिन मार्ग को नहीं। आज भौतिकवादी मनोवृत्ति के युग में यह प्रवृत्ति द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ती ही जा रही है। मानव अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए वह अहर्निश प्रयत्न कर रहा है तथा उसमें अपने जीवन की सार्थकता अनुभव कर रहा है, जबकि जैनधर्म भौतिकता पर नहीं, आध्यात्मिकता पर बल देता है। वह स्वार्थ को नही, परमार्थ को अपनाने का संकेत करता है, वह प्रवृत्ति की नहीं, निवृत्ति की प्रेरणा देता है, वह भोग नहीं, त्याग को बढ़ावा देता है, वासना को नहीं, उपासना को अपनाने का संकेत करता है, जिसके फलस्वरूप ही जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या अल्प व अल्पतर होती जा रही है पर, यह असमर्थता, अयोग्यता व दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मानव का है न कि जैनधर्म और दर्शन का है। अनुयायियों की अधिकता और न्यूनता के आधार से किसी भी धर्म को श्रेष्ठ और कनिष्ठ मानना विचारशीलता नही है। जैनधर्म की उपयोगिता और महानता जितनी अतीत काल में थी, उससे भी अधिक आधुनिक युग मे है। आज विश्व के भाग्यविधाता चिन्तित है। भौतिक सुख-सुविधाओं की असीम उपलब्धि पर भी जीवन में आनन्द की अनुभूति नही हो रही है। वे अनुभव करने लगे है कि बिना आध्यात्मिकता के भौतिक उन्नति जीवन के लिए वरदान नहीं, अपितु अभिशाप है।

जैनधर्म : एक स्वतंत्र व प्राचीन धर्म

यह साधिकार कहा जा सकता है कि जैनधर्म विश्व का सबसे प्राचीन धर्म है। यह न वैदिक धर्म की शाखा है, न बौद्धधर्म की। किन्तु यह सर्वतंत्र स्वतंत्र धर्म है, दर्शन है। यह सत्य है कि 'जैनधर्म' इस शब्द का प्रयोग वेदों में, त्रिपिटकों में और आगमों में देखने को नही मिलता जिसके कारण तथा साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण

कितने ही इतिहासकारों ने जैनधर्म को अर्वाचीन मानने की भयंकर भूल की है। हमें उनके ऐतिहासिक ज्ञान पर तरस आती है।

'वैदिक संस्कृति का विकास' पुस्तक में श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—"जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक संस्कृति की ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओं के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धों की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति, अन्ततोगत्वा वैदिक ही है।"[२]

शास्त्री महोदय ने जिन अन्तिम कल्पनाओं—कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वास्तव में वे मूलतः अवैदिक हैं।

वैदिक साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। और इनको बिना माने कर्मविपाक और बंधन की कल्पना का मूल्य ही क्या है? ए० ए० मैकडोनेल का मन्तव्य है—"पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदों में कोई संकेत नहीं मिलता है किन्तु एक ब्राह्मण में यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नहीं करते वह मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं।[३]

वैदिकसंस्कृति के मूल तत्त्व हैं—'यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था।' इन तीनों का विरोध श्रमणसंस्कृति की जैन और बौद्ध दोनों धाराओं ने किया है। अतः शास्त्री जी का मन्तव्य आधाररहित है। यह स्पष्ट है कि जैनधर्म वैदिकधर्म की शाखा नहीं है। यद्यपि अनेक विद्वान इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं। जैसे कि—

प्रो० लासेन ने लिखा है—"बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति है, क्योंकि जैन और बौद्ध परम्परा की मान्यताओं में अनेकविध समानता है।"[४]

प्रो० वेबर ने लिखा है—"जैनधर्म, बौद्धधर्म की एक शाखा है, वह उससे स्वतंत्र नहीं है।"[५]

किन्तु उन विद्वानों की भ्रांति का निरसन प्रो० याकोबी ने अनेक अकाट्य तर्कों के आधार से किया और अन्त में यह स्पष्ट बताया कि जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय स्वतंत्र हैं, इतना ही नहीं बल्कि जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र महावीर तो उस सम्प्रदाय के अन्तिम पुरस्कर्ता मात्र हैं।"[६]

---

२ वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १५-१६,
३ वैदिक माइथोलॉजी, पृ० ३१६
४ S. B. E. Vol. 22, Introduction, p. 19.
५ वही, पृ० १८
६ वही

जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म का अध्ययन करते हैं तब सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैनधर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिक काल से आरण्यक काल तक वह वातरशन मुनि या वातरशन श्रमणों के नाम से पहचाना गया है। ऋग्वेद में वातरशन मुनि का वर्णन है।[७] तैत्तिरीय-आरण्यक मे केतु, अरुण और वातरशन ऋषियो की स्तुति की गई है।[८] आचार्य सायण के मतानुसार केतु, अरुण और वातरशन ये तीनों ऋषियों के संघ थे।[९] वे अप्रमादी थे।[१०] श्रीमद्भागवत के अनुसार भी वातरशन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव ने किया।[११]

तैत्तिरीयारण्यक मे भगवान ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[१२]

'व्रात्य' शब्द भी वातरशन शब्द का सहचारी है। वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नहीं थे, क्योंकि प्रारंभ मे वैदिक परम्परा मे संन्यास और मुनि पद का स्थान नहीं था।[१३]

जैनधर्म के प्राचीन नाम

जैनधर्म का दूसरा नाम 'आर्हत धर्म' भी अत्यधिक विश्रुत रहा है। जो 'अर्हत्' के उपासक थे वे 'आर्हत्' कहलाते थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। ऋग्वेद में वेद और ब्रह्म के उपासक को 'बार्हत' कहा गया है। वेदवाणी को बृहती कहते हैं। बृहती की उपासना करने वाले बार्हत कहलाते हैं। वेदों की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी होते थे। वे इन्द्रियों का संयमन कर वीर्य की रक्षा करते थे और इस प्रकार

---

७ मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।

—ऋग्वेद संहिता १०।११।१

८ केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशनाः प्रतिष्ठां शतधा हि समाहिता सो सहस्र-धायसम्।

—तैत्तिरीय आरण्यक १।२१।३।१।२४

९ तैत्तिरीय आरण्यक १।३१।६

१० केत्वरुण वातरशन शब्दा ऋषि संघानाचक्षते।
ते सर्वेऽपि ऋषिसंघाः समाहित। सोऽप्रमत्ताः सन्त उपदधतु।

—तैत्तिरीयारण्यक भाष्य १।२१।३

११ श्रीमद्भागवत १।११।१२

१२ वातरशनाह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः।

—तैत्तिरीयारण्यक २।७।१

१३ साहित्य और संस्कृति, पृ० २०८, देवेन्द्र मुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, कचौड़ी गली, वाराणसी।

वेदों की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी साधक 'बार्हत' कहलाते थे।[१४] बार्हत ब्रह्म या ब्राह्मण संस्कृति के पुरस्कर्ता थे। वे वैदिक यज्ञ-याग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे।

आर्हत लोग यज्ञों में विश्वास न कर कर्मबंध और कर्मनिर्जरा को मानते थे। प्रस्तुत आर्हत धर्म को 'पद्मपुराण' में सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है।[१५] इस धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं।

ऋग्वेद में अर्हन् को विश्व की रक्षा करने वाला सर्वश्रेष्ठ कहा है।[१६]

शतपथ ब्राह्मण में भी अर्हन् का आह्वान किया गया है और अन्य कई स्थलों पर उन्हें 'श्रेष्ठ' कहा गया है।[१७] सायण के अनुसार भी अर्हन् का अर्थ योग्य है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि व अन्य तीर्थंकरों के लिए 'अर्हत्' विशेषण का प्रयोग किया है।[१८] इसिभासियं के अनुसार भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में प्रत्येकबुद्ध भी 'अर्हत्' कहलाते थे।[१९]

पद्मपुराण[२०] और विष्णुपुराण[२१] में जैनधर्म के लिए 'आर्हत् धर्म' का प्रयोग मिलता है।

आर्हत शब्द की मुख्यता भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल तक चलती रही।[२२]

महावीर-युगीन साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात होता है कि उस समय 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्य रूप से व्यवहृत हुआ है।[२३] बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान् महावीर को निगंथ नायपुत्त कहा है।[२४]

---

१४ ऋग्वेद १०।८५।४।

१५ आर्हतं सर्वमेतच्च, मुक्तिद्वारमसंवृतम्।
धर्माद् विमुक्तेरर्होऽयं न तस्मादपरः परः॥ —पद्मपुराण १३।३५०

१६ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१।३, ७।१८।२२, १०।२।२।, ६६।७ तथा १०।८५।४, ऐ ब्रा० ५।२।२, शा० १५।४, १८।२, २३।१ ऐ० ४।१०

१७ ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तै० आ० ४।५।७, ५।४।१० आदि-आदि

१८ कल्पसूत्र, देवेन्द्र मुनि सम्पादित, सूत्र १६१-१६२ आदि

१९ इसिभासियं १।२०

२० पद्मपुराण १३।३५०

२१ विष्णुपुराण ३।१८।१२

२२ (क) बाबू छोटेलाल स्मृति ग्रन्थ, पृ० २०१
(ख) अतीत का अनावरण, पृ० ६०

२३ (क) आचारांग, १।३।१।१०८
(ख) निग्गंथं पावयणं— —भगवती ६।६।३८६

२४ (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त, १८।२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग, पृ० २४२

अशोक के शिलालेखों में भी निगंठ शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[२५] भगवान महावीर के पश्चात् आठ गणधरों या आचार्यों तक 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्य रूप से रहा है।[२६] वैदिक ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थ शब्द मिलता है।[२७] सातवीं शताब्दी में बंगाल में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय प्रभावशाली था।[२८]

दशवैकालिक[२९], उत्तराध्ययन[३०] और सूत्रकृताङ्ग[३१] आदि आगमों में जिनशासन, जिनमार्ग, जिनवचन शब्दों का प्रयोग हुआ है। किंतु 'जैनधर्म' इस शब्द का प्रयोग आगम ग्रन्थों में नहीं मिलता। सर्वप्रथम 'जैन' शब्द का प्रयोग जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यकभाष्य में देखने को प्राप्त होता है।[32]

उसके पश्चात् के साहित्य में जैनधर्म शब्द का प्रयोग विशेष रूप से व्यवहृत हुआ है। मत्स्यपुराण[33] में 'जिनधर्म' और देवी भागवत[३४] में 'जैनधर्म' का उल्लेख प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि देशकाल के अनुसार शब्द बदलते रहे हैं, किंतु शब्दों के बदलते रहने से 'जैनधर्म' का स्वरूप अर्वाचीन नहीं हो सकता। परम्परा की दृष्टि से उसका सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव से है।

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैवधर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णवधर्म और

---

२५ इमे वियापरा हो हुंति त्ति निगंठेसु वि मे करे।
—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वि० खण्ड, पृ० १६

२६ पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृ० ४५

२७ (क) कन्याकौपीनोत्तरा सङ्गादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधरा 'निर्ग्रन्था' निष्परिग्रहा इति संवर्तश्रुतिः।
—तैत्तिरीय-आरण्यक १०।६३, सायण भाष्य, भाग-२, पृ० ७७८
(ख) जाबालोपनिषद्

२८ द एज आव इम्पीरियल कन्नौज, पृष्ठ २८८

२९ (क) सोच्चाणं जिण-सासणं—दशवैकालिक ८।२५
(ख) जिणमयं, वही ९।३।१५

३० जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेण। —उत्तराध्ययन, ३६।२६४

३१ सूत्रकृतांग

३२ (क) जेणं तित्थं—विशेषावश्यकभाष्य, गा० १०४३.
(ग) तित्थं-जइणं—वही, गा० १०४५-१०४६

३३ मत्स्यपुराण ४।१३।५४

३४ गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
जिनधर्मं समास्थाय वेद बाह्यं स वेदवित् ॥
दद्मरूप परं सौम्यं बोधयन्तं छलेन तान्।
जैनधर्मं कृतं स्वेन, यज्ञ निन्दापरं तथा ॥ —देवी भागवत ४।१३।५४

बुद्ध के नाम पर बौद्धधर्म प्रचलित है, वैसे ही जैनधर्म किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर प्रचलित नहीं है और न यह धर्म किसी व्यक्ति विशेष का पूजक ही है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर का धर्म नहीं कहा गया है। यह आर्हतों का धर्म है, जिनधर्म है। जैनधर्म के मूलमंत्र नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं'[३५] में किसी व्यक्तिविशेष को नमस्कार नहीं किया गया है। जैनधर्म का स्पष्ट अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष कर मानव से महामानव बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है।

तीर्थ और तीर्थंकर

तीर्थंकर शब्द जैनधर्म का मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कब और किस समय प्रचलित हुआ, यह कहना अत्यधिक कठिन है। वर्तमान इतिहास से इसका आदि सूत्र नहीं ढूंढा जा सकता। निस्संदेह यह शब्द उपलब्ध इतिहास से बहुत पहले प्राग्-ऐतिहासिक काल मे भी प्रचलित था। जैन-परम्परा में इस शब्द का प्राधान्य रहने के कारण बौद्ध साहित्य में भी इसका प्रयोग किया गया है, बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर 'तीर्थंकर' शब्द व्यवहृत हुआ है।[३६] सामञ्ञफलसुत्त में छह 'तीर्थंकरों' का उल्लेख किया है[३७] किंतु यह स्पष्ट है कि जैनसाहित्य की तरह मुख्य रूप से यह शब्द वहाँ प्रचलित नहीं रहा है। कुछ ही स्थलों पर इसका उल्लेख हुआ किंतु जैनसाहित्य में इस शब्द का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है। तीर्थंकर जैनधर्म-संघ का पिता है, सर्वेसर्वा है। जैनसाहित्य में खूब ही विस्तार से 'तीर्थंकर' का महत्त्व अङ्कित किया गया है। आगम साहित्य से लेकर स्तोत्र-साहित्य तक में तीर्थंकर का महत्त्व प्रतिपादित है। चतुर्विंशतिस्तव और शक्रस्तव में तीर्थंकर के गुणों का जो उत्कीर्तन किया गया है, उसे पढ़कर तीर्थंकर की गरिमा-महिमा का एक भव्य चित्र सामने प्रस्तुत हो जाता है तथा साधक का हृदय श्रद्धा से विनत हो जाता है।

जो तीर्थ का कर्ता या निर्माता होता है वह तीर्थंकर कहलाता है। जैन परिभाषा के अनुसार तीर्थ शब्द का अर्थ धर्म-शासन है।

जो संसार-समुद्र से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की संस्थापना करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये धर्म हैं। इस धर्म को धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका हैं। इस चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा गया है।[३८] इस तीर्थ की जो स्थापना करते हैं, उन विशिष्ट व्यक्तियों को तीर्थंकर कहते हैं।

---

३५ भगवती सूत्र, मंगलाचरण

३६ देखिए बौद्ध साहित्य का लंकावतार सूत्र

३७ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, पृ० १९—२२ हिन्दी अनुवाद

३८ (क) तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघो—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ। —भगवती सूत्र, शतक २, उ० ८, सूत्र १८२

(ख) स्थानांग ४।३

संस्कृत साहित्य में तीर्थ शब्द 'घाट' के लिए भी व्यवहृत हुआ है। जो घाट के निर्माता हैं, वे तीर्थंकर कहलाते है। सरिता को पार करने के लिए घाट की कितनी उपयोगिता है, यह प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति जानता है। संसार रूपी एक महान् नदी है, उसमें कहीं पर क्रोध के मगरमच्छ मुंह फाड़े हुए है, कहीं पर माया के जहरीले सांप फूत्कार कर रहे हैं तो कहीं पर लोभ के भंवर हैं। इन सभी को पार करना कठिन है। साधारण साधक विकारों के भंवर मे फंस जाते हैं। कषाय के मगर उन्हें निगल जाते हैं। अनन्त दया के अवतार तीर्थंकर प्रभु ने साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बनाया, अणुव्रत और महाव्रतों की निश्चित योजना प्रस्तुत की, जिससे प्रत्येक साधक इस संसार रूपी भयंकर नदी को सहज ही पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल अर्थात् सेतु भी है। चाहे कितनी ही बड़ी से बड़ी नदी क्यों न हो, यदि उस पर पुल है तो निर्बल-से-निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमता से पार कर सकता है। तीर्थंकरों ने संसार रूपी नदी को पार करने के लिए धर्म-शासन अथवा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूपी संघ स्वरूप पुल का निर्माण किया है। आप अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार इस पुल पर चढ़कर संसार को पार कर सकते हैं। धार्मिक साधना के द्वारा अपने जीवन को पावन बना सकते है। तीर्थंकरों के शासन-काल में हजारों, लाखों व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर जीवन को परम पवित्र व विशुद्ध बनाकर मुक्त होते है।

प्रश्न हो सकता है कि वर्तमान अवसर्पिणीकाल में भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम तीर्थ की संस्थापना की अतः उन्हें तो तीर्थंकर कहना चाहिए परन्तु उनके पश्चाद्वर्ती तेवीस महापुरुषों को तीर्थंकर क्यों कहा जाये?

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि धर्म की व्यवस्था जैसी एक तीर्थंकर करते हैं वैसी ही व्यवस्था दूसरे तीर्थंकर भी करते हैं, अतः एक ऋषभदेव को ही तीर्थंकर मानना चाहिए अन्य को नहीं।

उल्लिखित प्रश्नों के उत्तर में निवेदन है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त आदि जो धर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्त हैं, वे शाश्वत सत्य और सदा-सर्वदा अपरिवर्तनीय हैं। अतीत के अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान में जो श्री सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर हैं और अनागत अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर होने वाले है उन सबके द्वारा धर्म के मूल स्तम्भस्वरूप इन शाश्वत सत्यों के संबंध में समान रूप से प्ररूपणा की जाती रही है, की जा रही है और की जाती रहेगी। धर्म के मूल तत्त्वों के निरूपण में एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर का किंचित्मात्र भी मतभेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा, परन्तु प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय में देश, काल व जनमानस की ऋजुता, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान में रखते हुए उस काल और उस काल के मानव के अनुरूप साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका के लिए अपनी-अपनी एक नवीन आचार-संहिता का निर्माण करते है।

एक तीर्थंकर द्वारा संस्थापित श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ में काल-प्रभाव से जब एक अथवा अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, तीर्थ में लम्बे व्यवधान तथा अन्य कारणों से भ्रान्तियाँ पनपने लगती हैं, कभी-कभी तीर्थ विलुप्त अथवा विलुप्तप्राय, विशृंखल अथवा शिथिल हो जाता है, उस समय दूसरे तीर्थंकर का समुद्भव होता है और वे विशुद्धरूपेण नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं, अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। उनके द्वारा धर्म के प्राणभूत ध्रुव सिद्धान्त उसी रूप में उपदिष्ट किये जाते हैं, केवल बाह्य क्रियाओं एवं आचार-व्यवहार आदि का प्रत्येक तीर्थंकर के समय में न्यूनाधिक वैभिन्न्य होता है।

जब पुराने घाट ढह जाते हैं, विकृत अथवा अनुपयुक्त हो जाते हैं, तब नवीन घाट निर्माण किये जाते हैं। जब धार्मिक विधि-विधानों में विकृति आ जाती है तब तीर्थंकर उन विकृतियों को नष्ट कर अपनी दृष्टि से पुनः धार्मिक विधानों का निर्माण करते हैं। तीर्थंकरों का शासन भेद इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। मैंने इस सम्बन्ध में 'भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन' ग्रन्थ में विस्तार से विवेचन किया है। जिज्ञासु पाठकों को वहाँ देखना चाहिये।[३९]

तीर्थंकर अवतार नहीं

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैनधर्म ने तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार या अंश नहीं माना है और न दैवी सृष्टि का अजीब प्राणी ही स्वीकार किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर का जीव अतीत में एक दिन हमारी ही तरह सांसारिक प्रवृत्तियों के दल-दल में फँसा हुआ था, पापरूपी पंक से लिप्त था, कषाय की कालिमा से कलुषित था, मोह की मदिरा से मस्त था, आधि-व्याधि और उपाधियों से संत्रस्त था। हेय, ज्ञेय और उपादेय का उसे भी विवेक नहीं था। भौतिक व इन्द्रिय-जन्य सुखों को सच्चा सुख समझकर पागल की तरह उसके पीछे दौड़ रहा था किन्तु एक दिन महान् पुरुषों के संग से उसके नेत्र खुल गये। भेद-विज्ञान की उपलब्धि होने से तत्त्व की अभिरुचि जागृत हुई। सही व सत्य स्थिति का उसे परिज्ञान हुआ।

किंतु कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि मिथ्यात्व के पुनः आक्रमण से उस आत्मा के ज्ञान नेत्र धुंधले हो जाते हैं और वह पुनः मार्ग को विस्मृत कर कुमार्ग पर आरूढ़ हो जाता है और लम्बे समय के पश्चात् पुनः सन्मार्ग पर आता है तब वासना से मुँह मोड़ कर साधना को अपनाता है उत्कृष्ट तप व संयम की आराधना करता हुआ एक दिन भावों की परम निर्मलता से तीर्थंकर नामकर्म का बंध करता है और फिर वह तृतीय भव से तीर्थंकर बनता है।[४०] किंतु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जब

---

३९ भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ३-२५ प्रकाशक—पं० मुनि श्रीमल प्रकाशन, २५९ नाना पेठ, पूना नं० २, सन् १९६९

४० समवायाङ्ग सूत्र १५७

तक तीर्थंकर का जीव ससार के भोग-विलास में उलझा हुआ है, तब तक वह वस्तुतः तीर्थंकर नहीं है। तीर्थंकर बनने के लिए उस अन्तिम भव में भी राज्य-वैभव को छोड़ना होता है। श्रमण बन कर स्वयं को पहले महाव्रतो का पालन करना होता है, एकान्त-शान्त-निर्जन स्थानों में रहकर आत्म-मनन करना होता है, भयंकर-से-भयंकर उपसर्गों को शान्तभाव से सहन करना होता है। जब साधना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का घाति चातुष्टय नष्ट होता है तब केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति होती है। उस समय वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप तीर्थ की सस्थापना करते है, तब वस्तुतः तीर्थंकर कहलाते हैं।

उत्तारवाद

वैदिक परम्परा का विश्वास अवतारवाद मे है। गीता के अभिमतानुसार ईश्वर अज, अनन्त और परात्पर होने पर भी अपनी अनन्तता को अपनी मायाशक्ति से सकुचित कर शरीर को धारण करता है। अवतारवाद का सीधा-सा अर्थ है ईश्वर का मानव के रूप में अवतरित होना, मानव शरीर से जन्म लेना। गीता की दृष्टि से ईश्वर तो मानव बन सकता है, किंतु मानव कभी ईश्वर नही बन सकता। ईश्वर के अवतार लेने का एकमात्र उद्देश्य है सृष्टि के चारो ओर जो अधर्म का अंधकार छाया हुआ होता है, उसे नष्ट कर धर्म का प्रकाश, साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना करना।[४१]

जैनधर्म का विश्वास अवतारवाद मे नही है, वह उत्तारवाद का पक्षधर है। अवतारवाद में ईश्वर को स्वय मानव बन कर पुण्य-पाप करने पड़ते हैं। भक्तों की रक्षा के लिए उसे सहार भी करना पडता है। स्वयं राग-द्वेष से मुक्त होने पर भी भक्तों के लिए उसे राग भी करना पड़ता है और द्वेष भी। वैदिक परम्परा में विचारको ने इस विकृति को लीला कह कर उस पर आवरण डालने का प्रयास किया है। जैन दृष्टि ने मानव के उत्तार का समर्थन किया है। वह प्रथम विकृति से सस्कृति की ओर बढ़ता है, फिर प्रकृति में पहुँच जाता है। राग-द्वेष युक्त जो मिथ्यात्व की अवस्था है, वह विकृति है। राग-द्वेष मुक्त जो सदेह वीतराग अवस्था है, वह संस्कृति है। पूर्ण रूप से कर्मों से मुक्त जो शुद्ध सिद्ध अवस्था है, वह प्रकृति है। सिद्ध बनने का तात्पर्य है कि अनन्तकाल के लिए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति मे लीन हो जाना। वहाँ कर्मबंध और कर्मबंध के कारणों का सर्वथा अभाव होने से जीव पुनः ससार

---

४१ यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ४।७-८

भागवत के आधार पर लघु-भागवतामृत में यह संख्या २५ तथा 'सात्वत तंत्र' में लगभग ४१ से भी अधिक हो गई है।[५७] इस तरह मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में भी कोई सर्वमान्य सूची गृहीत नहीं हुई है।

हिन्दी साहित्य में चौबीस अवतारों का वर्णन है। उसमें भागवत की तीनों सूचियों का समावेश किया गया है। सूरदास[५८] बारहट्[५९] रामानन्द[६०] रज्जब[६१] वेंजू[६२] लखनदास[६३] नाभादास[६४] आदि ने भी चौबीस अवतारों का वर्णन किया है।

ये विष्णु के चौबीस अवतारों की अपेक्षा चौबीस नाम ही अधिक उचित प्रतीत होते हैं, क्योंकि अवतार और विभवों में यह अन्तर है कि अवतारों को उत्पन्न होने वाला माना है वहाँ पर विभव 'अजहत्' स्वभाव वाले हैं। जिस प्रकार दीप से दीप प्रज्वलित होता है वैसे ही वे उत्पन्न होते हैं।

'तत्वत्रय' पृष्ठ १६२ के अभिमतानुसार पाँचरात्रों में पृष्ठ २९ एवं पृष्ठ ११२-११३ में उद्धृत 'विष्वक्सेन संहिता' और 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (५, ५०-५७) में ३९ विभवों के नाम दिये हैं।

श्रेडर ने 'इन्ट्राडक्शन टू अहिर्बुध्न्यसंहिता' पृष्ठ ४१-४९ पर भागवत के अवतारों के साथ तुलना करते हुए उनमें चौबीस अवतारों का समावेश किया है। ३९ विभवों के नाम इस प्रकार :—(१) पद्मनाभ (२) ध्रुव (३) अनन्त (४) शक्त्यात्मन (५) मधुसूदन (६) विद्याधिदेव (७) कपिल (८) विश्वरूप (९) विहंगम (१०) क्रोधात्मन (११) वाडवावक्त्र (१२) धर्म (१३) वागीश्वर (१४) एकार्णवशायी (१५) कमठेश्वर (१६) वराह (१७) नृसिंह (१८) पीयूषहरन (१९) श्रीपति (२०) कान्तात्मन (२१) राहुजीत (२२) कालनेमिहन (२३) पारिजातहर (२४) लोकनाथ (२५) शान्तात्मा (२६) दत्तात्रेय (२७) न्यग्रोधशायी (२८) एकशृंगतनु (२९) वामनदेव (३०) त्रिविक्रम (३१) नर (३२) नारायण (३३) हरि (३४) कृष्ण (३५) परशुराम (३६) राम (३७) देवविद्य (३८) कल्कि (३९) पातालशायन।

—कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भाण्डारकर, पृ० ६६-६७

५७ लघुभागवतामृत, पृ० ७०, श्लोक ३२, सात्वततंत्र, द्वितीय पटल

५८ सूरसागर पृ० १२६, पद ३७८

५९ अवतार चरित, नं० १७३३, नागरी प्रचारिणी, सभा (हस्तलिखित प्रति)

६० न तहाँ चौबीसूँ वपु वरन।

—रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, नागरी प्रचारिणी, सभा पृ० ८९

६१ एक कहे अवतार दस, एक कहे चौबीस—रज्जब जी की बानी, पृ० ११८

६२ आप अवतार भये, चौबीस वपुधार—रागकल्पद्रुम, जिल्द १, पृ० ४५

६३ चतुर्विंश लीलावतारो—रागकल्पद्रुम, जि० १ पृ० ५१६

६४ चौबीस रूप लीला रुचिर

इन चौवीस अवतारो में मत्स्य, वराह, कूर्म, आदि अवतार पशु हैं, हंस पक्षी है, कुछ अवतार पशु और मानव दोनों के मिश्रित रूप है जैसे नृसिंह, हयग्रीव आदि।

वैदिक परम्परा में अवतारो की संख्या में क्रमशः परिवर्तन होता रहा है। जैन तीर्थंकरों की तरह उनका व्यवस्थित रूप नही मिलता। इतिहासकारों ने 'भागवत' की प्रचलित चौवीस अवतारों की परम्परा को जैनों से प्रभावित माना है। श्री गौरीचन्द हीराचन्द ओझा का मन्तव्य है कि चौवीस अवतारों की यह कल्पना भी बौद्धों के चौवीस बुद्ध और जैनों के चौवीस तीर्थंकरो की कल्पना के आधार पर हुई है।[६५]

चौवीस बुद्ध

भागवत में जिस प्रकार विष्णु, वासुदेव या नारायण के अनेक अवतारों की चर्चा की गई है उसी प्रकार लंकावतारसूत्र में कहा गया है कि बुद्ध अनन्त रूपों मे अवतरित होंगे और सर्वत्र अज्ञानियों में धर्म-देशना करेंगे।[६६] लंकावतारसूत्र मे भागवत के समान चौवीस बुद्धों का उल्लेख है।

सूत्रालंकार[६७] में बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्न का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कोई भी मनुष्य प्रारम्भ से ही बुद्ध नही होता। बुद्धत्व की उपलब्धि के लिए पुण्य और ज्ञान-संभार की आवश्यकता होती है। तथापि बुद्धो की संख्या में अभिवृद्धि होती गई। प्रारम्भ मे यह मान्यता रही कि एक साथ दो बुद्ध नहीं हो सकते किन्तु महायान मत ने एक समय मे अनेक बुद्धों का अस्तित्व स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि एक लोक में अनेक बुद्ध एक साथ हो सकते हैं।[६८]

इससे बुद्धों की संख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। सद्धर्म पुंडरीक मे अनन्त बोधिसत्व बताये गये है और उनकी तुलना गंगा की रेती के कणो से की गई है। इन सभी बोधिसत्वों को लोकेन्द्र माना है।[६९] उसके पश्चात् यह उपमा बुद्धों के लिए रूढ़ सी हो गई है।[७०]

लंकावतारसूत्र में यह भी कहा गया है कि बुद्ध किसी भी रूप को धारण कर सकते हैं, कितने ही सूत्रों मे यह भी बताया गया है कि गंगा की रेती के समान असंख्य बुद्ध भूत, वर्तमान और भविष्य में तथागत रूप होते हैं।[७१] जैसे विष्णुपुराण और भागवत मे विष्णु के असंख्य अवतार माने गये हैं वैसे ही बुद्ध भी असंख्य अवतरित होते

---

६५ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (संस्करण १९५१) पृ० १३,
६६ लंकावतारसूत्र ४०, पृ० २२६
६७ सूत्रालंकार ९।७७
६८ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १०४, १०५
६९ सद्धर्म पुण्डरीक १४।६ पृ० ३०२
७० मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद पृ० २२
७१ लंकावतारसूत्र पृ० १६८

हैं। जहाँ भी लोग अज्ञान अंधकार में छटपटाते हैं वहाँ पर बुद्ध का धर्मोपदेश सुनने को मिलता है।[७२]

बौद्ध साहित्य में प्रारम्भ में पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए बुद्ध के असंख्य अवतारों की कल्पना की गई किन्तु बाद में चलकर बुद्ध के अवतारों की संख्या ५, ७, २४ और २६ तक सीमित हो गई।

जातककथाओं का दूरेनिदान, अविदूरेनिदान और सन्तिकेनिदान के नाम से जो विभाजन किया गया है उनमें से दूरेनिदान[७३] में एक कथा इस प्रकार प्राप्त होती है।

"प्राचीनकाल में सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्हीं के समय दीपंकर बुद्ध उत्पन्न हुए। लोग दीपंकर बुद्ध के स्वागत हेतु मार्ग सजा रहे थे। सुमेध परिव्राजक उस कीचड़ में मृगचर्म बिछा कर लेट गया। उस मार्ग से जाते समय सुमेध की श्रद्धा व भक्ति को देखकर बुद्ध ने भविष्यवाणी की—"*यह कालान्तर में बुद्ध होगा।*" उसके पश्चात् सुमेध ने अनेक जन्मों में सभी पारमिताओं की साधना पूर्ण की। उन्होंने विभिन्न कल्पों में चौबीस बुद्धों की सेवा की और अन्त में लुम्बिनी में सिद्धार्थ नाम से उत्पन्न हुए।[७४]

प्रस्तुत कथा में पुनर्जन्म की संसिद्धि के साथ ही विभिन्न कल्पों में चौबीस बुद्ध हुए यह बताया गया है।

भदन्त शान्तिभिक्षु का मन्तव्य है कि ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी में चौबीस बुद्धों का उल्लेख हो चुका था।[७५]

ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि चौबीस तीर्थंकर और चौबीस बुद्ध की अपेक्षा, वैदिक चौबीस अवतार की कल्पना उत्तरवर्ती है, क्योंकि महाभारत के परिवर्धित रूप में भी दशावतारों का ही उल्लेख है। महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक के अन्य पुराणों में १०, ११, १२, १४ और २२ तक की संख्या मिलती है किन्तु चौबीस अवतार का स्पष्ट उल्लेख भागवत (२।७) में ही मिलता है। श्रीमद्भागवत का काल विद्वान अधिक से अधिक ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं।[७६]

वैदिक परम्परा की तरह बुद्धों की संख्या भी निश्चित नहीं है। बुद्धों की संख्या अनंत भी मानी गई है। ईसा के बाद सात मानुषी बुद्ध माने गए है[७७] और

---

७२ लंकावतार सूत्र ४० पृ० २२७
७३ जातक अट्ठकथा—दूरेनिदान, पृ० २ से ३६
७४ महायान—भदन्त शान्तिभिक्षु की प्रस्तावना, पृ० १५
७५ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद पृ० २४
७६ भागवत सम्प्रदाय, पृ० १४३, पं० बलदेव उपाध्याय
७७ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० १२१, आचार्य नरेन्द्रदेव

फिर चौबीस बुद्ध माने गये हैं।[७८] महाभारत की एक सूची में ३२ बुद्धों के नाम मिलते है।[७९] किन्तु जैन साहित्य में इस प्रकार की विभिन्नता नहीं है। वहाँ तीर्थंकरों की संख्या में एकरूपता है। चाहे श्वेताम्बर ग्रन्थ हो, चाहे दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ हों, उनमें सभी जगह चौबीस तीर्थंकरों का ही उल्लेख है।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख समवायांग, भगवती जैसे प्राचीन अंग ग्रन्थों में हुआ है। अंग ग्रन्थों के अर्थ के प्ररूपक स्वय भगवान महावीर है और वर्तमान में जो अग सूत्र प्राप्त है उनके सूत्र रचयिता गणधर सुधर्मा हैं। भगवान महावीर को ई० पूर्व ५५७ में केवलज्ञान हुआ और ५२७ में उनका परिनिर्वाण हुआ।[८०] इस दृष्टि से समवायांग का रचना काल ५५७ से ५२७ के मध्य में है।[८१] स्पष्ट है कि चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख चौबीस बुद्ध और चौबीस अवतारों की अपेक्षा बहुत ही प्राचीन है। जब जैनों मे चौबीस तीर्थंकरो की महिमा और गरिमा अत्यधिक बढ़ गई तब संभव है बौद्धो ने और वैदिक परम्परा के विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से बुद्ध और अवतारों की कल्पना की, पर जैनियों के तीर्थंकरो की तरह उनमें व्यवस्थित रूप न आ सका। चौबीस तीर्थंकरो की जितनी सुव्यवस्थित सामग्री जैन ग्रन्थों मे उपलब्ध होती है उतनी बौद्ध साहित्य में तथा वैदिक वाङ्मय में अवतारों की नहीं मिलती। जैन तीर्थंकर कोई भी पशु-पक्षी आदि नही हुए हैं, जबकि बौद्ध और वैदिक अवतारों में यह बात नहीं है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि "जो पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है वही मैं कह रहा हूँ।[८२] पर त्रिपिटक में बुद्ध ने कही भी यह नहीं कहा कि पूर्व बुद्धों ने[८३] यह कहा है जो मैं कह रहा हूँ"। पर वे सर्वत्र यही कहते है—"मैं ऐसा मानता हूँ।" इससे भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के पूर्व बौद्धधर्म की कोई भी परम्परा नहीं थी; जबकि महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा चल रही थी।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव

चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हैं। उनके जीवनवृत्त का

---

७८ वही, पृ० १०५
७९ दी बौद्धिष्ट इकानोग्राफी, पृ० १०, विजयघोष भट्टाचार्य
८० आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० ११७
८१ कितने ही विद्वान् वीर-निर्वाण संवत् ९६० की रचना मानते हैं, पर वह लेखन का समय है, रचना का नही।
८२ व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ५, उद्दे० ९, सू० २२७
वही, श० ९, उद्दे० ३२
८३ मज्झिमनिकाय ५६, अंगुत्तरनिकाय

परिचय पाने के लिए आगम व आगमेतर साहित्य ही प्रबल प्रमाण है। जैनदृष्टि से भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे के उपसंहारकाल में हुए हैं।[८४] चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर और ऋषभदेव के बीच का समय असंख्यात वर्ष का है।[८५] वैदिकदृष्टि से ऋषभदेव प्रथम सतयुग के अन्त में हुए हैं और राम व कृष्ण के अवतारों से पूर्व हुए हैं।[८६] जैनदृष्टि से आत्मविद्या के प्रथम पुरस्कर्ता भगवान ऋषभदेव हैं।[८७] वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे।[८८] ब्रह्माण्डपुराण मे ऋषभदेव को दस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक माना है।[८९] श्रीमद्भागवत से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वहाँ यह बताया गया है कि वासुदेव ने आठवाँ अवतार नाभि और मरुदेवी के यहाँ धारण किया। वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया[९०] एतदर्थ ही ऋषभदेव को मोक्षधर्म की विवक्षा से 'वासुदेवांश' कहा है।[९१]

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। वे सभी ब्रह्मविद्या के पारगामी थे।[९२] उनके नौ पुत्रों को आत्मविद्या विशारद भी कहा है।[९३] उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत तो महायोगी थे।[९४] स्वयं ऋषभदेव को योगेश्वर कहा गया है।[९५] उन्होंने विविध योगचर्याओं का आचरण किया था।[९६] जैन आचार्य उन्हें योगविद्या के प्रणेता मानते हैं।[९७]

---

८४ (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (ख) कल्पसूत्र

८५ कल्पसूत्र

८६ जिनेन्द्रमत दर्पण, भाग १, पृ० १०

८७ धम्माणं कासवो मुहं,—उत्तराध्ययन १६, अध्ययन २५

८८ उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया, पढमजिणे, पढमकेवली पढमतित्थयरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २।३०

८९ इह इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन।
महादेवेन ऋषभेण दसप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः। —ब्रह्माण्डपुराण

९० अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतम्। —श्रीमद्भागवत १।३।१३

९१ तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्ष धर्म विवक्षया। —श्रीमद्भागवत ११।२।१६

९२ अवतीर्णः सुतशतं, तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्। —वही ११।२।१६

९३ श्रमणा वातरशना: आत्मविद्या विशारदाः। —वही ११।२।२०

९४ येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणः आसीत्।

९५ भगवान ऋषभदेवो योगेश्वरः। —वही ५।४।३

९६ नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिऋषभः। —वही ५।५।२५

९७ योगिकल्पतरुं नौमि देव देवं वृषध्वजम्। —ज्ञानार्णव १।२।

हठयोग प्रदीपिका में भगवान् ऋषभदेव को हठयोग विद्या के उपदेशक के रूप में नमस्कार किया है।[९८]

ऋषभदेव अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण वैदिक परम्परा में काफी मान्य रहे हैं।

महाकवि सूरदास ने उनके व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखा है—नाभि ने पुत्र के लिए यज्ञ किया उस समय यज्ञपुरुष[९९] ने स्वयं दर्शन देकर जन्म लेने का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ऋषभ की उत्पत्ति हुई।[१००]

सूरसारावली मे कहा गया है कि प्रियव्रत के वंश मे उत्पन्न हरी के ही शरीर का नाम ऋषभदेव था। उन्होंने इस रूप मे भक्तों के सभी कार्य पूर्ण किये।[१] अनावृष्टि होने पर स्वयं वर्षा होकर बरसे और ब्रह्मावर्त मे अपने पुत्रों को ज्ञानोपदेश देकर स्वयं संन्यास ग्रहण किया। हाथ जोड़े हुए प्रस्तुत अष्टसिद्धियों को उन्होने स्वीकार नही किया। ये ऋषभदेव मुनि परब्रह्म के अवतार बताये गये है।[२]

नरहरिदास ने भी इनकी अवतार कथा का वर्णन करते हुए इन्हें परब्रह्म, परमपावन व अविनाशी कहा है।[३]

ऋग्वेद में भगवान् श्री ऋषभदेव को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाश करने वाला बतलाते हुए कहा है—"जैसे जल भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्व ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् हैं उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्व ज्ञान आत्मा के शत्रुओं—क्रोधादिक का विध्वंसक हो। दोनों संसारी और मुक्त—आत्माएँ अपने ही आत्मगुणो से चमकती है। अतः वे राजा हैं। वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्म-पतन नही होने देते।"[४]

---

९८ श्री आदिनाथ नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

९९ नाभि नृपति सुत हित जग कियो।
जज्ञ पुरुष तब दरसन दियो। —सूरसागर, पृ० १५०, पद ४०६

१०० मैं हरता करता संसार में लैहों नृप गृह अवतार।
रिषभदेव तब जनमे आई, राजा कै गृह बजी बधाई। —सूरसागर, पृ० १५०

१ प्रियव्रत धरेउ हरि निज वपु ऋषभदेव यह नाम।
किन्हें ब्याज सकल भक्तन को अंग-अंग अभिराम॥ —सूरसारावली, पृ० ४

२ आठों सिद्धि भई सम्मुख जब करी न अंगीकार।
जय जय जय श्री ऋषभदेव मुनि परब्रह्म अवतार॥ —सूरसारावली, पृ० ४

३ अवतार लीला। —हस्तलिखित

४ असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः दिवो न पाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे। —ऋग्वेद ५२।३८

तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की थी कि "मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा विद्यमान है जो आत्मसाधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है वही परमात्मा बन जाता है।" उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की ऋचा से होती है, "जिसके चार शृंग—*अनंतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य* हैं। तीन पाद हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। दो शीर्ष—केवलज्ञान और मुक्ति हैं तथा जो मन, वचन और काय इन तीनों योगों से बद्ध है (संयत है) उस ऋषभ ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मानव के भीतर ही आवास करता है।"[५]

अथर्ववेद[६] और यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं। कहीं-कहीं वे प्रतीक शैली में वर्णित हैं और कहीं-कहीं पर संकेत रूप से उल्लेख है।

अमेरिका और यूरोप के वनस्पति-शास्त्रियों ने अपनी अन्वेषणा से यह सिद्ध किया है कि खाद्य गेहूँ का उत्पादन सबसे पहले हिन्दुकुश और हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेश में हुआ।[७] सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी यही पता लगता है कि कृषि का प्रारम्भ सर्वप्रथम इस देश में हुआ था। जैनदृष्टि से भी कृषि विद्या के जनक ऋषभ देव हैं। *उन्होंने असि, मसि और कृषि का प्रारम्भ किया था।* भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी कहीं पर वे कृषि के देवता माने जाकर उपास्य रहे हैं, कहीं पर वर्षा के देवता माने गये हैं और कहीं पर 'सूर्यदेव' मानकर पूजे गये हैं। सूर्यदेव—उनके केवलज्ञान का प्रतीक रहा है।

चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे हैं। चीनी त्रिपिटकों में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको 'रोकशाब' (Rokshab) कहकर पुकारते हैं।

मध्य एशिया, मिश्र और यूनान तथा फोनेशिया एवं फणिक लोगों की भाषा में वे 'रेशेफ' कहलाये, जिसका अर्थ सींगोंवाला देवता है जो ऋषभ का अपभ्रंश रूप है।[८]

शिवपुराण के अध्ययन से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।[९]

---

५ चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश। —ऋग्वेद

६ अथर्ववेद १६।४२।४

७ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५२, लेखक—भरतसिंह उपाध्याय।

८ (क) भगवान् ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता—लेखक, कामताप्रसाद जैन, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वि० खं०, पृ० ४
(ख) बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ, पृ० २०४

९ इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीन बन्धुर्नवमः कथितस्तव॥
ऋषभस्य चरित्रं हि परमपावनं महत्।
स्वर्ग्यंयशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं वै प्रयत्नतः॥ —शिवपुराण ४।४७-४८

डाक्टर राजकुमार जैन ने 'ऋषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ' शीर्षक लेख में विस्तार से ऊहापोह किया है कि भगवान ऋषभदेव और शिव दोनों एक थे। अतः जिज्ञासु पाठकों को वह लेख पढ़ने की प्रेरणा देता हूँ।[१०]

अक्कड़ और सुमेरों की संयुक्त प्रवृत्तियों से उत्पन्न बेबीलोनिया की संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन मानी जाती है। उनके विजयी राजा हम्मुराबी (२१२३—२०८१ ई० पू०) के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग और पृथ्वी का देवता वृषभ था।[११]

सुमेर के लोग कृषि के देवता के रूप मे अर्चना करते थे जिसे आबू या तामुज कहते थे।[१२] वे बैल को विशेष पवित्र समझते थे।[१३] सुमेर तथा बाबुल के एक धर्म शास्त्र में 'अर्हशम्म' का उल्लेख मिलता है।[१४] 'अर्ह' शब्द अर्हत् का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है।

हित्ती जाति पर भी भगवान ऋषभदेव का प्रभाव जान पड़ता है। उनका मुख्य देवता 'ऋतुदेव' था। उसका वाहन बैल था जिसे 'तेशुब' कहा जाता था, जो 'तित्थयर उसभ' का अपभ्रंश ज्ञात होता है।[१५]

ऋग्वेद मे भगवान ऋषभ का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है।[१६] किन्तु टीकाकारों ने साम्प्रदायिक भावना के कारण अर्थ मे परिवर्तन कर दिया है जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गये हैं। जब हम साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का चश्मा उतार कर

---

१० मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६०६-६२६

११ बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ, पृ० १०५

१२ विल ड्यूरेन्ट : द स्टोरी ऑव सिविलाइजेशन (अवर ओरियण्टल हेरिटेज) न्यूयार्क १९५४, पृ० २१९

१३ वही, पृ० १२७

१४ वही, पृ० १९९

१५ विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा— डा० कामताप्रसाद जैन, गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४०३

१६ ऋग्वेद संहिता

मण्डल १	अध्याय २४	सूत्र १६०	मन्त्र १
,, २	,, ४	,, ३३	,, १५
,, ५	,, २	,, २८	,, ४
,, ६	,, १	,, १	,, ८
,, ६	,, २	,, १६	,, ११
,, १०	,, १२	,, २६	,, १

—आदि-आदि

उन ऋचाओं का अध्ययन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में ही कहा गया है।

वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर ऋषभदेव की स्तुति करता हुआ कहता है—

हे आत्मद्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आना चाहता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है—उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो ! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयाया (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।"[१७]

ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण परम्परा में ही नहीं अपितु ब्राह्मण परम्परा में भी रहा है। वहाँ उन्हें आराध्यदेव मानकर मुक्त-कंठ से गुणानुवाद किया गया है। सुप्रसिद्ध वैदिक साहित्य के विद्वान् प्रो० विरूपाक्ष एम०ए० वेदतीर्थ और आचार्य विनोबा भावे जैसे बहुश्रुत विचारक ऋग्वेद आदि में ऋषभदेव की स्तुति के स्वर सुनते हैं।[१८]

ऋग्वेद में भगवान ऋषभदेव के लिए 'केशी' शब्द का प्रयोग हुआ है। वातरशन मुनि के प्रकरण में केशी की स्तुति की गई है जो स्पष्ट रूप से भगवान ऋषभदेव से सम्बन्धित है।[१९]

ऋग्वेद के दूसरे स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ है।[२०] जिस सूत्र में यह ऋचा आयी है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृता गाव:' प्रभृति श्लोक अङ्कित किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायें तस्कर चुरा कर ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से गायें आगे न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी। प्रस्तुत ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बताया किन्तु प्रकारान्तर से उन्होंने उसे स्वीकार किया है।[२१]

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि

---

१७ ऋग्वेद ३।३४।२

१८ पूज्य गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ : इतिवृत्त

१९ ऋग्वेद १०।१३६।१

२० ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत: सहानस
ऋच्छन्ति: मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥ —ऋग्वेद १०।१०२।६

२१ अथवा अस्य सारथि: सहायभूत: केशी प्रकृष्टकेशो वृषभ: अवावचीत् भृशम-शब्दयत् इत्यादि। —सायणभाष्य

की गायें (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

सारांश यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थी, वे उनके योग युक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई।

जैन साहित्य के अनुसार जब भगवान ऋषभदेव साधु बने उस समय उन्होंने चार मुष्टि केशों का लोच किया था।[२२] सामान्य रूप से पाँच-मुष्टि केश लोच करने की परम्परा रही है। भगवान केशों का लोच कर रहे थे। दोनों भागों के केशों का लोच करना अवशेष था। उस समय शक्रेन्द्र की प्रार्थना से भगवान् ने उसी प्रकार रहने दिया।[२३] यही कारण है कि केश रखने से वे केशी या केशरियाजी के नाम से विश्रुत हुए। जैसे सिंह अपने केशों के कारण से केशरी कहलाता है वैसे ही ऋषभदेव भी केशी, केशरी और केशरियाजी के नाम से पुकारे जाते हैं।

भगवान ऋषभदेव, आदिनाथ,[२४] हिरण्यगर्भ[२५] और ब्रह्मा आदि नामों से भी अभिहित हुए हैं।[२६]

जैन और वैदिक साहित्य मे जिस प्रकार विस्तार से भगवान ऋषभदेव का चरित्र चित्रित किया गया है वैसा बौद्ध साहित्य में नहीं हुआ है। केवल कहीं-कहीं पर नाम निर्देश अवश्य हुआ है। जैसे 'धम्मपद' मे "उसभं पवरं वीरं।"[२७] गाथा में अस्पष्ट रीति से ऋषभदेव और महावीर का उल्लेख हुआ है।[२८]

बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ आप्त के उदाहरण में ऋषभ और महावीर का निर्देश किया है और बौद्धाचार्य आर्यदेव भी ऋषभदेव को ही जैनधर्म का आद्य प्रचारक मानते है। 'आर्यमंजुश्री मूलकल्प' में भारत के आदि सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है।[२९]

---

२२ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—वक्षस्कार २, सूत्र ३०
(ख) सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ। —कल्पसूत्र, सूत्र १९५
(ग) उच्चखान चतुसृभिर्मुष्टिभिः शिरसः कचान्।
चतुसृभ्यो दिग्भ्यः शेषामिव दातुमना प्रभुः॥ —त्रिषष्टि० १।३।६७

२३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सूत्र ३० की वृत्ति

२४ ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० ६६ —देवेन्द्र मुनि

२५ (क) हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्यः पुरातनः। —महाभारत, शान्तिपर्व
(ख) विशेष विवेचन के लिए देखिए, कल्पसूत्र की प्रस्तावना। —देवेन्द्र मुनि

२६ ऋषभदेव : एक परिशीलन—देवेन्द्र मुनि पृ० ९१-९२

२७ धम्मपद ४।२२

२८ इण्डियन हिस्टारिक क्वार्टरली, भाग ३, पृ० ४७३, ७५

२९ प्रजापतेः सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः॥ —आर्यमंजुश्री मूलकल्प ३९०

आधुनिक प्रतिभा-सम्पन्न मूर्धन्य चिन्तक भी इस सत्य तथ्य को बिना संकोच स्वीकार करने लगे हैं कि भगवान ऋषभदेव से ही जैन-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है।

डॉक्टर हर्मन जेकोबी लिखते हैं कि 'इसमें कोई प्रमाण नहीं कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को ही जैनधर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की अत्यधिक संभावना है।'[३०]

डाक्टर राधाकृष्णन्[३१], डाक्टर स्टीवेन्सन[३२] और जयचन्द विद्यालंकार[३३] प्रभृति अन्य अनेक विज्ञों का यही अभिमत रहा है।[३४]

अजित तथा अन्य तीर्थंकर

बौद्ध थेरगाथा में एक गाथा अजित थेर के नाम की आयी है[३५]। उस गाथा की *अट्टकथा में बताया गया है कि ये अजित ६१ कल्प से पूर्व प्रत्येक बुद्ध हो गये हैं।* जैन साहित्य में अजित नाम के द्वितीय तीर्थंकर है और संभवतः बौद्ध साहित्य में उन्हें ही प्रत्येकबुद्ध अजित कहा हो क्योंकि दोनों की योग्यता, पौराणिकता एवं नाम में साम्य है। महाभारत में अजित और शिव को एक चित्रित किया गया है। हमारी दृष्टि से जैन तीर्थंकर अजित ही वैदिक-बौद्ध परम्परा में भी पूज्यनीय रहे हैं और उनके नाम का स्मरण अपनी दृष्टि से उन्होंने किया है।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेष नामों का कोष बनाया है। उस कोष में सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम जैन तीर्थंकरों के आये हैं। महाभारतकार ने इन तीनों को असुर बताया है[३६]। वैदिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरों का धर्म रहा है। असुर लोग आर्हतधर्म के उपासक थे, इस प्रकार का वर्णन जैन साहित्य में नहीं मिलता है किन्तु विष्णुपुराण[३७], पद्मपुराण[३८], मत्स्य-पुराण[३९],

---

३० इण्डि० एण्टि०, जिल्द ९, पृ० १६३
३१ भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २८७
३२ कल्पसूत्र की भूमिका—डॉ० स्टीवेन्सन
३३ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३८४
३४ (क) जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका, पृ १०८
(ख) हिन्दी विश्वकोष, भाग ४, पृ० ४४४।
३५ मरणे मे भयं नत्थि, निकन्ति नत्थि जीविते।
सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो। —थेरगाथा १।२०
३६ जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना, पृ० २६
३७ विष्णुपुराण ३।१७।१८
३८ पद्मपुराण सृष्टि खण्ड, अध्याय १३, श्लोक १७०-४१३
३९ मत्स्यपुराण २४।४३-४९

देवी भागवत[४०] और महाभारत आदि में असुरों को आर्हत या जैनधर्म का अनुयायी बताया है।

अवतारों के निरूपण में जिस प्रकार भगवान ऋषभ को विष्णु का अवतार कहा है वैसे ही सुपार्श्व को कुपथ नामक असुर का अंशावतार कहा है तथा सुमति नामक असुर के लिए वर्णन मिलता है कि वरुण प्रासाद में उनका स्थान दैत्यों और दानवों में था।[४१]

महाभारत मे विष्णु और शिव के जो सहस्र नाम है उन नामों की सूची में 'श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव ये नाम विष्णु के आये हैं, जो जैनधर्म के तीर्थंकर भी थे। हमारी दृष्टि से इन तीर्थंकरों के प्रभावशाली व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण ही इनको वैदिक परम्परा ने भी विष्णु के रूप में अपनाया है। नाम साम्य के अतिरिक्त इन महापुरुषों का सम्बन्ध असुरों से जोड़ा गया है, क्योंकि वे वेद-विरोधी थे। वेद-विरोधी होने के कारण उनका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से होना चाहिए यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध है।

भगवान शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं। वे पूर्वभव में जब मेघरथ थे तब कबूतर की रक्षा की, यह घटना वसुदेवहिण्डी[४२], त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र[४३] आदि में मिलती है तथा शिवि राजा के उपाख्यान के रूप में वैदिक ग्रन्थ महाभारत मे प्राप्त होती है और बौद्ध वाङ्मय मे 'जीमूतवाहन' के रूप मे चित्रित की गई है। प्रस्तुत घटना हमें बताती है कि जैन परम्परा केवल निवृत्ति रूप अहिंसा मे ही नहीं, पर, मरते हुए की रक्षा के रूप मे प्रवृत्ति रूप अहिंसा में भी धर्म मानती है।

अठारहवें तीर्थंकर 'अर' का वर्णन 'अंगुत्तरनिकाय' में भी आता है। वहाँ पर तथागत बुद्ध ने अपने से पूर्व जो सात तीर्थंकर हो गये थे उनका वर्णन करते हुए कहा कि उनमें से सातवें तीर्थंकर 'अरक' थे।[४४] अरक तीर्थंकर के समय का निरूपण करते हुए कहा कि अरक तीर्थंकर के समय मनुष्य की आयु ६० हजार वर्ष होती थी। ५०० वर्ष की लड़की विवाह के योग्य समझी जाती थी। उस युग में मानवों को केवल छह

---

४० देवी भागवत ४।१३।५४-५७

४१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० २६

४२ वसुदेवहिण्डी, २१ लम्भक

४३ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ५।४

४४ भूतपुब्बं भिक्खवे सुनेत्तोनाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेहु वीतरागो···मुग-पक्ख···अरनेमि··कुद्दालक··हत्थिपाल, जोतिपाल···अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन, भिक्खवे, सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसुं। —अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ० २५६-२५७
सं० भिक्षु जगदीश कस्सपो, पालि प्रकाशन मंडल, बिहार राज्य

प्रकार का कष्ट था— (१) शीत, (२) उष्ण, (३) भूख, (४) तृषा, (५) मूत्र, (६) मलोत्सर्ग। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार की पीड़ा और व्याधि नहीं थी। तथापि अरक ने मानव को नश्वरता का उपदेश देकर धर्म करने का सन्देश दिया[४५]। उनके उस उपदेश की तुलना उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन से की जा सकती है।

जैनागम के अनुसार भगवान 'अर' की आयु ८४००० वर्ष है और उसके पश्चात् होने वाले तीर्थंकर मल्ली की आयु ५५००० वर्ष की है।[४६] इस दृष्टि से 'अरक' का समय 'भगवान् अर' और 'भगवती मल्ली' के मध्य में ठहरता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'अरक' तीर्थंकर से पूर्व बुद्ध के मत में 'अरनेमि' नामक एक तीर्थंकर और भी हुए हैं। बुद्ध के बताये हुए अरनेमि और जैन तीर्थंकर 'अर' संभवतः दोनों एक हों।

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली भगवती, बीसवें मुनिसुव्रत और इक्कीसवें तीर्थंकर नमि का वर्णन वैदिक और बौद्ध वाङ्मय में नहीं मिलता।

ये सभी तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में हुए हैं।

अरिष्टनेमि

भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं। आधुनिक इतिहासविद् जो साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से मुक्त हैं और शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, वे भगवान अरिष्टनेमि को भी एक ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्री कृष्ण दोनों समकालीन ही नहीं, एक वंशोद्भव भाई-भाई हैं। दोनों अपने समय के महान् व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों की जीवन दिशाएँ भिन्न-भिन्न रही हैं। एक धर्मवीर है तो दूसरे कर्मवीर हैं। एक निवृत्तिपरायण है तो दूसरे प्रवृत्तिपरायण। एक प्रवृत्ति के द्वारा लौकिक प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हैं तो दूसरे निवृत्ति को प्रधान मानकर आध्यात्मिक विकास के सोपानों पर आरूढ़ होते हैं।

भगवान अरिष्टनेमि के युग का गंभीरतापूर्वक पर्यालोचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में क्षत्रियों में मांसभक्षण की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई थी। उनके विवाह के अवसर पर पशुओं का एकत्र किया जाना इस तथ्य को स्पष्ट करता है। हिंसा की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन सामान्य का ध्यान आकर्षित करने के लिए और क्षत्रियों को मांस-भक्षण से विरत करने के लिए श्री अरिष्टनेमि ने जो पद्धति अपनाई, वह अद्भुत और असाधारण थी, बनना विवाह किये बिना लौट जाना मानों समग्र क्षत्रिय-जाति के पापों का प्रायश्चित्त था। उसका बिजली का सा प्रभाव दूर-दूर तक और बहुत गहरा हुआ।

---

४५ अंगुत्तरनिकाय, अरकसुत्त, भाग ३, पृ० २५७ सम्पादक-प्रकाशक वही।
४६ आवश्यक निर्युक्ति गा० ३२५—३२७, ५६

एक सुप्रतिष्ठित महान् राजकुमार का दूल्हा बनकर जाना और ऐसे मौके पर विवाह किये बिना लौट जाना क्या साधारण घटना थी ? भगवान अरिष्टनेमि का वह बड़े से बड़ा त्याग था और उस त्याग ने एक बार पूरे समाज को झकझोर दिया था। समाज के हित के लिए आत्म-बलिदान का ऐसा दूसरा कोई उदाहरण मिलना कठिन है। इस आत्मोत्सर्ग ने अभक्ष्य-भक्षण करने वालों और अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरों के जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाले क्षत्रियो की आँखें खोल दी, आत्मालोचन के लिए विवश कर दिया और उन्हे अपने कर्तव्य एवं दायित्व का स्मरण करा दिया। इस प्रकार परम्परागत अहिंसा के शिथिल एवं विस्मृत बने संस्कारो को उन्होंने पुन: पुष्ट, जागृत व सजीव कर दिया और अहिंसा की संकीर्ण बनी परिधि को विशालता प्रदान की। पशुओं और पक्षियों को भी अहिंसा की परिधि मे समेट लिया। जगत के लिए भगवान का यह उद्बोधन एक अपूर्व वरदान था और वह आज तक भी भुलाया नहीं गया है।

वेद, पुराण और इतिहासकारों की दृष्टि से भगवान अरिष्टनेमि का क्या महत्त्व है, इस प्रश्न पर "भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन" ग्रन्थ मे भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता[४७] शीर्षक के अन्तर्गत प्रमाण-पुरस्सर विवेचन किया गया है।

जैन ग्रन्थों की तरह वैदिक हरिवंशपुराण मे श्रीकृष्ण और भगवान अरिष्टनेमि का वंश वर्णन प्राप्त है।[४८] उसमें श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई होना लिखा है। जैन और वैदिक परम्परा में अन्तर यही है कि जैन परम्परा में भगवान अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा भाई माना है। वे दोनों सहोदर थे; जबकि वैदिक हरिवंशपुराण मे चित्रक और वसुदेव को चचेरा भाई माना है। श्रीमद्भागवत में चित्रक का नाम चित्ररथ दिया है। संभव है वैदिक ग्रन्थों मे समुद्रविजय का ही अपर नाम चित्रक या चित्ररथ आया हो।

भगवान अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता

भगवान अरिष्टनेमि २२वें तीर्थंकर हैं। आधुनिक इतिहासकारो, ने जो कि साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त एवं शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न है, उनको ऐतिहासिक पुरुषों की पंक्ति में स्थान दिया है, किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इतिहास को भी अन्यथा रूप देने वाले लोग इस तथ्य को स्वीकार नही करना चाहते। मगर जब वे कर्मयोगी श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो अरिष्टनेमि भी उसी युग मे हुए हैं और दोनों मे अत्यन्त निकट पारिवारिक सम्बन्ध थे। अर्थात् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव तथा अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दोनों सहोदर भाई थे। अत: उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में संकोच नही होना चाहिए।

---

४७ जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृ० २३६ से २४१ तक

४८ देखिए—भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्रमुनि, पृ० २४१ से २४८

वैदिक साहित्य के आलोक में

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है,[४९] स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः (ऋग्वेद १।१४।८६।६)। यहाँ पर अरिष्टनेमि शब्द भगवान अरिष्टनेमि के लिए आया है। कितने ही विद्वानों की मान्यता है कि छान्दोग्योपनिषद् में भगवान अरिष्टनेमि का नाम घोर आंगिरस ऋषि आया है। घोर आंगिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। उनकी दक्षिणा, तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा, सत्यवचन रूप थी।[५०] धर्मानन्द कौशाम्बी की मान्यता है कि आंगिरस भगवान नेमिनाथ का ही नाम था।[५१] घोर शब्द भी जैन श्रमणों के आचार तथा तपस्या की उग्रता बताने के लिए आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है।[५२]

छान्दोग्योपनिषद में देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि उपदेश देते हुए कहते है—अरे कृष्ण! जब मानव का अन्त समय सन्निकट आये तब उसे तीन वाक्यों का स्मरण करना चाहिए—

(१) त्वं अक्षतमसि—तू अविनश्वर है।

(२) त्वं अच्युतमसि—तू एकरस में रहने वाला है।

(३) त्वं प्राणसंशितमसि—तू प्राणियों का जीवनदाता है।[५३]

श्रीकृष्ण इस उपदेश को श्रवण कर अपिपास हो गये। उन्हें अब किसी भी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं रही। वे अपने आपको धन्य अनुभव करने लगे। प्रस्तुत कथन की तुलना हम जैन आगमों में आये हुए भगवान अरिष्टनेमि के भविष्य कथन से कर सकते हैं। द्वारिका का विनाश और श्रीकृष्ण की जरत्कुमार के हाथ से मृत्यु होगी—यह सुनकर श्री कृष्ण चिन्तित होते हैं तब उन्हें भगवान उपदेश सुनाते है जिसे सुनकर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट एवं खेदरहित होते हैं।[५४]

---

४९ (क) ऋग्वेद १।१४।८६।६ (ख) ऋग्वेद १।२४।१८०।१०
(ग) ऋग्वेद ३।४।५३।१७ (घ) ऋग्वेद १०।१२।१७८।१

५० अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
छान्दोग्य उपनिषद् ३।१७।४

५१ भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ५७

५२ घोरतवे, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबम्भचेरवासी। भगवती १।१।

५३ तद्धैतद् घोर आंगिरस, कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव, सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षतमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति।
—छान्दोग्योपनिषद् प्र० ३, खण्ड १८

५४ अन्तकृद्दशा, वर्ग ५, अ० १

ऋग्वेद[५५], यजुर्वेद[५६] और सामवेद[५७] में भगवान अरिष्टनेमि को तार्क्ष्य अरिष्टनेमि भी लिखा है।

स्वस्ति न इन्द्रोवृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातुः॥[५८]

विज्ञों की धारणा है कि अरिष्टनेमि शब्द का प्रयोग जो वेदों में हुआ है वह भगवान अरिष्टनेमि के लिए है।[५९]

महाभारत में भी तार्क्ष्य शब्द का प्रयोग हुआ है जो भगवान अरिष्टनेमि का ही अपर नाम होना चाहिए।[६०] उन्होने राजा सगर को जो मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया है वह जैनधर्म के मोक्ष-मन्तव्यों से अत्यधिक मिलता-जुलता है। उसे पढ़ते समय सहज ही ज्ञात होता है कि हम मोक्ष सम्बन्धी जैनागमिक वर्णन पढ रहे है। उन्होंने कहा—

सगर ! मोक्ष का सुख ही वस्तुतः समीचीन सुख है। जो अहर्निश धन-धान्य आदि के उपार्जन में व्यस्त है, पुत्र और पशुओ में ही अनुरक्त है वह मूर्ख है उसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों मे आसक्त है, जिसका मन अशान्त है, ऐसे मानव का उपचार कठिन है क्योंकि जो राग के बन्धन मे बंधा हुआ है वह मूढ़ है तथा मोक्ष पाने के लिए अयोग्य है।[६१] ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सगर के समय मे वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे। अतः यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता, उसका सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से है। यजुर्वेद में अरिष्टनेमि का उल्लेख एक स्थान पर इस प्रकार आया है—अध्यात्मयज्ञ को प्रकट करने वाले, संसार के भव्यजीवों को सब प्रकार से उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूं।[६२]

---

५५ (क) त्वमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥
—ऋग्वेद १०।१२।१७८।१

(ख) ऋग्वेद १।१।१६

५६ यजुर्वेद २५।१६

५७ सामवेद ३।६

५८ ऋग्वेद १।१।१६।

५६ उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ७

६० एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदांवरः।
विबुध्य सपदं चाप्रयां सद्वाक्यमिदमब्रवीत॥ —महाभारत शान्तिपर्व २८८।४

६१ महाभारत शान्तिपर्व, २८८।५,६

६२ वाजस्यनुप्रसव आबभूवेमाच,
विश्वा भुवनानि सर्वतः।

डा० राधाकृष्णन ने लिखा है यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में वर्णन है—अपने जन्म के पिछले भाग में वामन ने तप किया। उस तप के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये। वे शिव श्याम वर्ण, अचेल तथा पद्मासन से स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। यह नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों का नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्श से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है।[६३]

महापुराण में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गयी है।[६४] महाभारत के अनुशासन पर्व, अध्याय १४ में विष्णु सहस्रनाम में दो स्थान पर 'शूर शौरिर्जनेश्वरः' पद व्यवहृत हुआ है। जैसे—

> अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।
> अनुकूलः शतावर्त्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥५०॥
> कालनेमि महावीरः शौरिः शूरजनेश्वरः।
> त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहाहरिः ॥८२॥

इन श्लोकों में 'शूरः शौरिर्जनेश्वरः' शब्दों के स्थान पर 'शूरः शौरिजिनेश्वरः' पाठ मानकर अरिष्टनेमि अर्थ किया गया है।[६५]

> स नेमिराजा परियाति विद्वान्
> प्रजापुष्टिं वर्धमानोऽस्मैस्वाहा: ॥

—वाजसनेयि—माध्यदिन शुक्ल यजुर्वेद,
अध्याय ९, मन्त्र २५, सातवलेकर संस्करण, विक्रम सं० १९८४

६३ भवस्य पश्चिमेभागे वामनेनतपःकृतम्।
तेनैवतपसाकृष्टः, शिवः प्रत्यक्षतागतः ॥
पद्मासनः समासीनः श्याममूर्तिः दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवोऽथैवं नामचक्रेऽस्यवामनः ॥
कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।
दर्शनात् स्पर्शनादेवः कोटियज्ञः फलप्रदः ॥

—स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड

६४ कैलाशे विमलेरम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतार य सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥
रेवताद्रौ जिनोनेमिर्युगादिविमलाचले।
ऋषीणा याश्रमादेव मुक्तिमार्गस्यकारणम् ॥

—प्रभासपुराण ४९-५०

६५ मोक्षमार्ग प्रकाश—प० टोडरमल

स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ पर श्रीकृष्ण के लिए 'शौरि' शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्तमान में आगरा जिले के बटेश्वर के सन्निकट शौरिपुर नामक स्थान है। वही प्राचीन युग में यादवों की राजधानी थी। जरासंघ के भय से यादव वहाँ से भागकर द्वारिका में जा बसे। शौरिपुर में ही भगवान अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था। एतदर्थ उन्हें 'शौरि' भी कहा गया है। वे जिनेश्वर तो थे ही अतः यहाँ 'शूरः शौरि-जिनेश्वरः' पाठ अधिक तर्कसंगत लगता है क्योंकि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में कहीं पर भी शौरिपुर के साथ यादवों का सम्बन्ध नहीं बताया गया है। अतः महाभारत में श्रीकृष्ण को 'शौरि' लिखना विचारणीय अवश्य है।

भगवान अरिष्टनेमि का नाम अहिंसा की अखण्ड ज्योति जगाने के कारण इतना अत्यधिक लोकप्रिय हुआ कि महात्मा बुद्ध के नामों की सूची में एक नाम अरिष्टनेमि का भी है। लंकावतार के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नाम दिये हैं। वहाँ लिखा है—जिस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक नाम प्रयुक्त होते है उसी प्रकार बुद्ध के असंख्य नाम है। कोई उन्हें तथागत कहते हैं तो कोई उन्हें स्वयम्भू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वरः प्रधान, कपील, भूतानत, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, वलि, वरुण, आदि नामों से पुकारते है।[६६]

इतिहासकारों की दृष्टि में

नन्दीसूत्र में ऋषिभाषित (इसिभासिय) का उल्लेख है[६७]। उनमें पैंतालीस प्रत्येक बुद्धों के द्वारा निरूपित पैंतालीस अध्ययन हैं। उसमें बीस प्रत्येक बुद्ध भगवान अरिष्टनेमि के समय हुए।[६८]

उनके नाम इस प्रकार है—

१. नारद।
२. वज्जियपुत्र।
३. असितदविक।
४. भारद्वाज अंगिरस।
५. पुष्पसालपुत्र।
६. वल्कलचीरि।
७. कुर्मापुत्र।
८. केतलीपुत्र।
९ महाकश्यप।
१० तेतलिपुत्र।

---

६६ बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १६२
६७ नन्दीसूत्र
६८ पत्तेयबुद्धमिसिणो, वीसंतित्थेअरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस, वीरस्स विलीणमोहस्स ॥ इसिभासियं, पढमा संगहिणी, गाथा १

११. मंखलीपुत्र ।
१२. याज्ञवल्क्य ।
१३. मैत्रयभयाली ।
१४. बाहुक ।
१५. मधरायण ।
१६. सोरियायण ।
१७. विदु ।
१८. वर्षपकृष्ण ।
१९. आरियायण ।
२०. उत्कलवादी ।[६९]

उनके द्वारा प्ररूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंभूत प्रमाण हैं ।

प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर राय चौधरी ने अपने 'वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास' में भगवान अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) को श्री कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है ।

पी० सी० दीवान ने लिखा है जैन ग्रन्थों के अनुसार नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के बीच में ८४००० वर्ष का अन्तर है, हिन्दू पुराणों में इस बात का निर्देश नहीं है कि वसुदेव के समुद्रविजय बड़े भाई थे और उनके अरिष्टनेमि नामक कोई पुत्र था। प्रथम कारण के सम्बन्ध में दीवान का कहना है कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं कि जैन ग्रन्थकारों के द्वारा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के बीच में सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने से उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें किन्तु केवल इसी कारण से जैनग्रन्थों में वर्णित अरिष्ट-नेमि के जीवन वृत्तान्त को जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओझल कर देना युक्तियुक्त नहीं है ।

दूसरे कारण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि भागवत सम्प्रदाय के ग्रंथकारों ने अपने परम्परागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है जितना श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। जैनग्रन्थों में ऐसे अनेक ऐति-हासिक तथ्य हैं जो भागवत साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं ।[७०]

---

६९ णारद वज्जिपुत्ते आसिते अंगरिसि पुप्फसाले य ।
वक्कलकुम्मा केवलि मासव तह तेतलिपुत्ते य ॥
मंखली जण्णवक्कलि बाहुय महु सोरियाण विदुविपू ।
वरिसकण्हे आरिय उक्कलवादीय तरुणे य ॥
—इसिभासियाई, पढमा संगहिणी, गाथा—२-३ ।

७० जैन साहित्य का इतिहास
—पूर्व पीठिका—ले० पं० कैलाशचन्द्र जी पृ० १७०-१७१ ।

कर्नल टॉड ने अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में लिखा है—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं, उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डीनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।"[७१]

प्रसिद्ध कोषकार डाक्टर नगेन्द्रनाथवसु, पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर फुहरर, प्रोफेसर बारनेट, मिस्टर करवा, डाक्टर हरिदत्त, डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृति अन्य अनेक विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि भगवान अरिष्टनेमि एक प्रभावशाली पुरुष हुए थे। उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में कोई बाधा नहीं है।

साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट नाम का निर्देश होने पर भी टीकाकारों ने अर्थ में परिवर्तन किया है। अतः आज आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से उस पर चिन्तन करने की। जब हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट ज्ञात होगा कि भगवान अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

भगवान पार्श्व : एक ऐतिहासिक पुरुष

भगवान पार्श्व के जीवनवृत्त की ज्योतिर्मय रेखाएँ श्वेताम्बर और दिगम्बरों के ग्रन्थों में बड़ी श्रद्धा और विस्तार के साथ उट्टंकित की गई है। वे भगवान महावीर से ३५० वर्ष पूर्व वाराणसी में जन्मे थे। तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे, फिर संयम लेकर उग्र तपश्चरण कर कर्मों को नष्ट किया। केवलज्ञान प्राप्त कर भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर जन-जन के कल्याण हेतु उपदेश दिया। अन्त में सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर सम्मेत शिखर पर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान पार्श्व के जीवन-प्रसंगों में, जैसे कि सभी महापुरुषों के जीवन-प्रसंगो में रहते हैं, अनेक चमत्कारिक अद्भुत प्रसंग हैं, जिनको लेकर कुछ लोगों ने उन्हें पौराणिक महापुरुष माना। किन्तु वर्तमान शताब्दी के अनेक इतिहासज्ञों ने उस पर गम्भीर अनुशीलन-अनुचिन्तन किया और सभी इस निर्णय पर पहुँचे कि भगवान पार्श्व एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं। सर्वप्रथम डाक्टर हर्मन जेकोबी ने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रमाणों के प्रकाश में भगवान पार्श्व को एक ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध किया।[७२] उसके पश्चात् कोलब्रुक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड, टामस, डा० बेलवलकर, दास गुप्ता, डा० राधाकृष्णन्,[७३] शार्पेन्टियर, गेरीनोट, मजूमदार, ईलियट और पुगिन प्रभृति अनेक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों ने भी यह सिद्ध किया कि महावीर के पूर्व एक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय था और उस सम्प्रदाय के प्रधान भगवान पार्श्वनाथ थे।

---

७१ अनल्स आफ दी भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पत्रिका, जिल्द २३, पृ० १२२

72 The Sacred Books of the East, Vol. XLV Introduction, page 21 : That Parsva was a historical person is now admitted by all as very probable. . . ."

73 Indian Philosophy : Vol. I., Page 287.

डाक्टर बाशम के अभिमतानुसार भगवान महावीर को बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में अंकित किया गया है, एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। भगवान पार्श्व चौबीस तीर्थंकरों में से तेईसवें तीर्थंकर के रूप में प्रख्यात थे।[७४]

डाक्टर चार्ल्स शार्पेन्टियर ने लिखा है "हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होंगी।"[७५]

विज्ञों ने जिन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व महावीर से पूर्व सिद्ध किया है। वे तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) जैनागमों[७६] में और बौद्ध त्रिपिटकों[७७] में अनेक स्थलों पर मंखली-

---

74 The Wonder that was India(A. L. Basham, B. A., Ph. D., F.R. A. S.), Reprinted 1956., pp. 287-288.

"As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt. . . . . .Parswa was remembered as twenty-third of the twentyfour great teachers or Tirthankaras 'ford-makers' of the Jaina faith."

75 The Uttaradhyana Sutra : Introduction, Page 21 : "We ought also to remember both—the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

७६ (क) भगवती १५-१
(ख) उपासकदशांग, अध्याय ७
(ग) आवश्यकसूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति—पूर्वभाग
(घ) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृष्ठ २८३-२९२
(ङ) कल्पसूत्र की टीकाएँ
(च) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र
(छ) महावीर चरियं, नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र आदि

७७ (क) मज्झिमनिकाय १।१९८।२५०,२१५
(ख) संयुत्तनिकाय १।६८, ४।३९८
(ग) दीघनिकाय १।५२
(घ) दिव्यावदान, पृष्ठ १४३

पुत्र गोशालक का वर्णन है। वह एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का संस्थापक था जिसका नाम 'आजीवक' था। बुद्धघोष ने दीघनिकाय पर एक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।[७८] उसमें वर्णन है कि गोशालक के मन्तव्यानुसार मानव समाज छह अभिजातियों में विभक्त है। उनमें से तृतीय लोहाभिजाति है। यह निर्ग्रन्थों की एक जाति है जो एक शाटिक होते थे।[७९] एक शाटिक निर्ग्रन्थों से गोशालक का तात्पर्य श्रमण भगवान महावीर के अनुयायियों से पृथक किसी अन्य निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से रहा होगा। डा० बाशम[८०], डा० हर्नले[८१], आचार्य बुद्धघोष[८२] ने लोहित अभिजाति का अर्थ एक वस्त्र पहनने वाले निर्ग्रन्थ से किया है।[८३]

(२) उत्तराध्ययन के तेवीसवें अध्याय में केशी श्रमण और गौतम का संवाद है। वह भी इस बात पर प्रकाश डालता है कि महावीर से पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में चार याम को मानने वाला एक सम्प्रदाय था और उस सम्प्रदाय के प्रधान नायक भगवान पार्श्व थे।[८४]

(३) भगवती, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन आदि आगमों में ऐसे अनेक पार्श्वापत्य श्रमणों का वर्णन आया है, जो चार याम को छोड़कर महावीर के पंच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार करते हैं। जिनके सम्बन्ध में विस्तार से हम अन्यत्र निरूपण कर चुके हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि महावीर के पूर्व चार याम को मानने वाला निर्ग्रंथ सम्प्रदाय था।[८५] भगवती (शतक १५) के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि शान, कलंद, कर्णिकार आदि छह दिशाचर, जो अष्टांग निमित्त के ज्ञाता थे, उन्होंने गोशालक का शिष्यत्व स्वीकार किया। चूर्णिकार के मतानुसार वे दिशाचर पार्श्वनाथ संतानीय थे।[८६]

---

७८ सुमंगल विलासिनी, खण्ड १, पृष्ठ १६२

७९ तत्रिदं, भंते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पञ्ञता, निगण्ठा, एक साटका। —सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, छक्क-निपाता महावग्गो, छलभिजाति सुत्तं— ६-६-३, पृष्ठ ९३-९४।

80 Red (lohita), niganthas, who wear a single garment.
—op. cit. Page 243.

81 Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. I, Page 262.

82 The Book of Kindred Sayings, Vol. III, Page 17 fn.

83 E. W. Burlinghame : Buddhist Legends, Vol. III, Page 176.

८४ उत्तराध्ययन २३

८५ (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति १।९।७६
(ख) उत्तराध्ययन २३
(ग) सूत्रकृतांग २, नालंदीयाध्ययन

८६ आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २०

(४) बौद्ध साहित्य में महावीर और उनके शिष्यों को चातुर्यामयुक्त लिखा है। दीघनिकाय में एक प्रसग है। अजातशत्रु ने तथागत बुद्ध के सामने श्रमण भगवान महावीर की भेंट का वर्णन करते हुए कहा है—

'भन्ते! मैं निगण्ठनातपुत्र के पास भी गया और उनसे भी सांदृष्टिक श्रामण्य-फल के बारे में पूछा। उन्होंने मुझे चातुर्याम संवरवाद बतलाया। उन्होंने कहा—निगण्ठ चार संवरों से संवृत रहता है—(१) वह जल के व्यवहार का वर्जन करता है, जिससे जल के जीव न मरे (२) वह सभी पापों का वर्जन करता है (३) सभी पापों के वर्जन से धुत पाप होता है और (४) सभी पापों के वर्जन में लगा रहता है। इसलिए वह निर्ग्रंथ गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।[८७]

संयुक्तनिकाय मे इसी तरह निक नामक एक व्यक्ति ज्ञातपुत्र महावीर को चातुर्याम युक्त कहता है। जैन साहित्य से यह पूर्ण सिद्ध है कि भगवान महावीर की परम्परा पञ्चमहाव्रतात्मक रही है।[८८] तथापि बौद्ध साहित्य में चार याम युक्त कहा गया है।[८९] यह इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित व सम्बद्ध रहे हैं और इसी कारण महावीर के धर्म को भी उन्होंने उसी रूप में देखा है। यह पूर्ण सत्य है कि महावीर के पूर्व निर्ग्रंथ सम्प्रदायों में चार यामों का ही माहात्म्य था और इसी नाम से वह अन्य सम्प्रदाय में विश्रुत रहा होगा। सम्भव है बुद्ध और उनकी परम्परा के विज्ञों को श्रमण भगवान महावीर ने निर्ग्रंथ सम्प्रदाय में जो आंतरिक परिवर्तन किया, उसका पता न चला हो।

(५) जैन आगम साहित्य में पूर्व साहित्य का उल्लेख है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह थे। आज वे सभी लुप्त हो चुके हैं। डाक्टर हर्मन जैकोबी की कल्पना है कि श्रुतांगों के पूर्व अन्य धर्मग्रन्थों का अस्तित्व एक पूर्व सम्प्रदाय के अस्तित्व का सूचक है।[९०]

(६) डाक्टर हर्मन जैकोबी ने मज्झिमनिकाय के एक संवाद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—'सच्चक का पिता निर्ग्रंथ मतानुयायी था। किन्तु सच्चक निर्ग्रंथ मत को नहीं मानता था। अतः उसने गर्वोक्ति की कि मैंने नातपुत्र महावीर को

---

८७ दीघनिकाय सामञ्ञफल १-२

८८ उत्तराध्ययन २३।२३

८९ बौद्ध साहित्य में जो चार याम बताये गये हैं वे यथार्थ नहीं हैं। तथागत की इस कल्पना जैन-परम्परा में नहीं मिलती है। यह कहा जा सकता है कि शीत जल आदि का निषेध जैन-परम्परा के विरुद्ध नहीं है।

90 The name (पूर्व) itself testifies to the fact that the Purvas were superseded by a new canon, for Purva means former, earlier. . .
Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction, P. XLIV

विवाद में परास्त किया, क्योंकि एक प्रसिद्ध वादी जो स्वयं निर्ग्रंथ नहीं, किन्तु उसका पिता निर्ग्रंथ है। वह बुद्ध का समकालीन है, यदि निर्ग्रंथ सम्प्रदाय का प्रारम्भ बुद्ध के समय ही होता तो उसका पिता निर्ग्रंथ धर्म का उपासक कैसे होता ? इससे स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीर और बुद्ध से पूर्व विद्यमान था।

(७) एक बार बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। भिक्षुओं को आमंत्रित कर उन्होंने कहा—"भिक्षुओ ! मैं प्रव्रजित हो वैशाली गया। वहाँ अपने तीन सौ शिष्यों के साथ आराड कालाम रह रहे थे। मैं उनके सन्निकट गया। वे अपने जिन श्रावकों को कहते—त्याग करो, त्याग करो। जिन श्रावक उत्तर में कहते—हम त्याग करते हैं, हम त्याग करते हैं।

"मैंने आराड कालाम से कहा—मैं भी आपका शिष्य बनना चाहता हूँ। उन्होंने कहा–'जैसा तुम चाहते हो वैसा करो।' मैं शिष्य रूप में वहाँ रहने लगा। जो उन्होंने सिखलाया वह सभी सीखा। वह मेरी प्रखर बुद्धि से प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—जो मैं जानता हूँ, वही यह गौतम जानता है। अच्छा हो गौतम हम दोनों मिलकर संघ का संचालन करें। इस प्रकार उन्होने मेरा सम्मान किया।

"मुझे अनुभव हुआ, इतना-सा ज्ञान पाप-नाश के लिए पर्याप्त नही। मुझे और गवेषणा करनी चाहिए। यह विचार कर मैं राजगृह आया। वहाँ पर अपने सात सौ शिष्यों के परिवार से उद्रक राम पुत्र रहते थे। वे भी अपने जिन श्रावकों को वैसा ही कहते थे। मैं उनका भी शिष्य बना। उनसे भी मैंने बहुत कुछ सीखा। उन्होने भी मुझे सम्मानित पद दिया। किन्तु मुझे यह अनुभव हुआ कि इतना ज्ञान भी पाप क्षय के लिये पर्याप्त नहीं। मुझे और भी खोज करनी चाहिए, यह सोचकर मैं वहाँ से भी चल पड़ा।"[६१]

प्रस्तुत प्रसंग में जिन श्रावक शब्द का प्रयोग हुआ है। वह यह सूचित करता है कि आराड कालाम, उद्रक राम पुत्र और उनके अनुयायी निर्ग्रन्थ धर्मी थे। यह प्रकरण 'महावस्तु' ग्रन्थ का है, जो महायान सम्प्रदाय का प्रमुखतम ग्रन्थ रहा है। महायान के त्रिपिटक संस्कृत भाषा मे है। पालि त्रिपिटकों मे जिस उद्देश्य से 'निगण्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसी अर्थ मे यहाँ पर 'जिन श्रावक' शब्द का प्रयोग किया गया है।[६२]

यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने जिन-श्रावकों के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा। इससे यह सिद्ध होता है कि तथागत के पूर्व निर्ग्रन्थ धर्म था।

(८) धम्मपद की अट्ठकथा के अनुसार निर्ग्रन्थ वस्त्रधारी थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है,[६३] जो सम्भवतः भगवान पार्श्व की परम्परा के अस्तित्व को बतलाता है।

---

६१ Mahavastu : Tr. by J. J. Jones; Vol. II, pp. 114-117 के आधार से।

६२ Mahavastu : Tr. by J. J. Jones. Vol. II, Page 114 N.

६३ धम्मपद अट्ठकथा, २२-८

(६) अंगुत्तर निकाय मे वर्णन है कि वप्प नामक एक निर्ग्रन्थ श्रावक था।[९४] उसी सुत्त की अट्ठकथा में यह भी निर्देश है कि वप्प बुद्ध का चूल पिता (पितृव्य) था।[९५] यद्यपि जैन परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। उल्लेखनीय बात तो यह है, बुद्ध के पितृव्य का निर्ग्रन्थ धर्म में होना भगवान पार्श्व और उनके निर्ग्रन्थ धर्म की व्यापकता का स्पष्ट परिचायक है। बुद्ध के विचारों में यत्किंचित् प्रभाव आने का यह भी एक निमित्त हो सकता है।

तथागत बुद्ध की साधना पर भगवान पार्श्व का प्रभाव

भगवान पार्श्व की परम्परा से बुद्ध का सम्बन्ध अवश्य रहा है। वे अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहते हैं—सारिपुत्र! बोधि प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी-मूछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था। उकड़ू बैठकर तपस्या करता था। मैं *नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर* खाता था।

बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमन्त्रण को भी स्वीकार नहीं करता था।[९६] यह समस्त आचार जैन श्रमणों का है। इस आचार में कुछ स्थविरकल्पिक है, और कुछ जिनकल्पिक है। दोनों ही प्रकार के आचारों का उनके जीवन में सम्मिश्रण है। सम्भव है प्रारम्भ में गौतम बुद्ध पार्श्व की परम्परा में दीक्षित हुए हों।

आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य देवसेन ने लिखा है कि जैन श्रमण पिहिताश्रव ने सरयू के तट पर पलास नामक ग्राम में श्री पार्श्वनाथ के संघ में उन्हें दीक्षा दी, और उनका नाम बुद्धकीर्ति रखा।[९७]

पं० सुखलालजी[९८] ने तथा बौद्ध पंडित धर्मानन्द कोसाम्बी[९९] ने यह अभिप्राय

---

९४ अंगुत्तरनिकाय—पालि, चतुक्कनिपात, महावग्गो, वप्प सुत्त ४-२०-५ हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १८८ से १९२

९५ अंगुत्तरनिकाय—अट्ठकथा, खण्ड २, पृष्ठ ५५६
वप्पो ति दसबलस्स चूलपिता।

९६ (क) मज्झिमनिकाय—महासिंहनाद सुत्त १।१।२
(ख) भगवान बुद्ध, धर्मानन्द कोसाम्बी, पृष्ठ ६८-६९

९७ सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी॥
दर्शनसार, देवसेनाचार्य पं० नाथूलाल प्रेमी द्वारा सम्पादित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२०, श्लोक ६

९८ चार तीर्थंकर

९९ बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारों यामों को पूर्णतया स्वीकार किया था ... 'बुद्ध के मत से चार यामों का पालन करना ही तपस्या है।' ... वहाँ के श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम संवर ही विशेष पसन्द आया।

अभिव्यक्त किया है कि भगवान बुद्ध ने किंचित समय के लिए भी भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा अवश्य ही स्वीकार की थी। वहीं पर उन्होंने केश लुंचन आदि की साधना की और चातुर्याम धर्म का मर्म पाया।

प्रसिद्ध इतिहासकार डा० राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं—वास्तविक बात यह ज्ञात होती है—बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिये उस काल में प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया। आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का और तब जैन मार्ग का और बाद में अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का विकास किया।[100]

श्रीमती राइस डेविड्स ने गौतम बुद्ध द्वारा जैन तप-विधि का अभ्यास किये जाने की चर्चा करते हुए लिखा है—"बुद्ध पहले गुरु की खोज में वैशाली पहुंचे, वहां आलार और उद्रक से उनकी भेंट हुई, फिर बाद मे उन्होंने जैनधर्म की तप-विधि का अभ्यास किया।"[1]

संक्षेप में सारांश यही है कि बुद्ध की साधना पद्धति, भगवान् पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों से प्रभावित थी।

जैन साहित्य से यह भी सिद्ध है कि अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर धर्म के प्रवर्तक नहीं, अपितु सुधारक थे। उनके पूर्व प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में तेवीस तीर्थंकर हो चुके हैं किन्तु बावीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें हैं जो आधुनिक विचारकों के मस्तिष्क में नहीं बैठतीं, किन्तु भगवान पार्श्व के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है, जो आधुनिक विचारकों की दृष्टि में अतिशयोक्ति पूर्ण हो। जिस प्रकार १०० वर्ष की आयु, तीस वर्ष गृहस्थाश्रम और ७० वर्ष तक संयम तथा २५० वर्ष तक उनका तीर्थ इसमें ऐसी कोई भी अवधि नहीं है, जो असम्भवता एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सन्देह उत्पन्न करती हो। इसीलिए इतिहासकार उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। जैन साहित्य से ही नहीं, अपितु बौद्ध साहित्य से भी उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इसी ऐतिहासिकता के साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि भगवान महावीर का परिनिर्वाण ईसा पू० ५२७-५२८ माना गया है। निर्वाण से ३० वर्ष पूर्व ईसा पूर्व ५५७ महावीर ने सर्वज्ञत्व प्राप्त कर तीर्थ का प्रवर्तन किया और महावीर एवं पार्श्वनाथ के तीर्थ मे २५० वर्ष का अन्तर है। इसका अर्थ है ई० पू० ८०७ में भगवान पार्श्वनाथ ने इस धरा पर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

श्रमण संस्कृति ही नहीं, अपितु वैदिक संस्कृति भी भगवान पार्श्वनाथ से प्रभावित हुई। वैदिक संस्कृति में पहले भौतिकता का स्वर प्रखर था। भगवान पार्श्व ने उस भौतिकवादी स्वर को आध्यात्मिकता का नया आयाम दिया।

---

१०० डा० राधाकुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनुवादित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५, पृ० २३९।

१ Mrs. Rhys Davids : Gautama The Man, pp. 22-25.

वैदिक संस्कृति में श्रमण संस्कृति के स्वर

वैदिक संस्कृति का मूल वेद है। वेदों में आध्यात्मिक चर्चाएँ नहीं हैं। उसमें अनेक देवों की भव्यस्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की गई हैं। द्युतिमान होना देवत्व का मुख्य लक्षण है। प्रकृति के जो रमणीय दृश्य और विस्मयजनक व चमत्कारपूर्ण जो घटनाएँ थीं उनको सामान्य रूप से देवकृत कहा गया है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—देव के ये तीन प्रकार माने गये हैं। इन तीनों दृष्टियों से देवत्व का प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। स्थान विशेष से तीन देवता प्रमुख हैं। पृथ्वीस्थानदेव—इसमें अग्नि को मुख्य माना गया है। अन्तरिक्षस्थान देव—इसमें इन्द्र और वायु को मुख्य स्थान दिया गया है। द्युस्थानदेव—जिनमें सूर्य और सविता मुख्य हैं। इन तीनों देवों की स्तुति ही विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों पर की गई है। इन देवों के अतिरिक्त अन्य देवों की भी स्तुतियाँ की गई हैं। ऋग्वेद की तरह सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी यही है।

उसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं। उनमें भी यज्ञ के विधि-विधान का ही विस्तार से वर्णन है—यज्ञों के सम्बन्ध में कुछ विरोध भी प्रतीत होता है। उसका परिहार भी ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है। उसके पश्चात् संहिता साहित्य आता है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्य भेद यही है कि संहिता स्तुतिप्रधान है और ब्राह्मण विधि प्रधान है।

उसके पश्चात् उपनिषद् साहित्य आता है। उसमें यज्ञों का विरोध है। अध्यात्म-विद्या की चर्चा है—हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, कहाँ जायेंगे—आदि प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। अध्यात्मविद्या श्रमण संस्कृति की देन है।

आचार्य शंकर ने दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनके नाम इस प्रकार हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

डॉक्टर बेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिषदों में मुख्य ये हैं—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकी, केन और प्रश्न।[२]

आर्थर ए० मैक्डोनल के अभिमतानुसार प्राचीनतम वर्ग बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी उपनिषद् का रचनाकाल ईसा पूर्व ६०० है।[३]

एच० सी० राय चौधरी का मत है कि विदेह के महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पात्र थे। उनका काल-मान ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रंथ पृष्ठ ६७ में लिखा है—

---

२ हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ८७-९०।
३ History of the Sanskrit Literature, p. 226.

"जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाणकाल ईसा पूर्व ७७७ है।" इससे भी यही सिद्ध है कि प्राचीनतम उपनिषद् पार्श्व के पश्चात् के हैं।[४]

डाक्टर राधाकृष्णन् की धारणा के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों का काल-मान ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक है।[५]

स्पष्ट है कि उपनिषद् साहित्य भगवान पार्श्व के पश्चात् निर्मित हुआ है। भगवान पार्श्व ने यज्ञ आदि का अत्यधिक विरोध किया था। आध्यात्मिक साधना पर बल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियों पर भी पड़ा और उन्होंने उपनिषदों में यज्ञ का विरोध किया।[६] उन्होंने स्पष्ट कहा—"यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ़ हैं, वे इनको श्रेय मानते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।"

मुण्डकोपनिषद् में विद्या के दो प्रकार बताये हैं—परा और अपरा। परा विद्या वह है जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है और इससे भिन्न अपराविद्या है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह अपरा है।[७]

महाभारत में महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा है—"मैंने ऋक्, साम, यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्रगति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँच महाभूतों के उपादान कारण को न जान सका।[८]

प्रजापति मनु ने कहा—"मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो इसलिए कर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ किया गया है। इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों एतदर्थ ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है। वेद में जो कर्मों के प्रयोग बताये गये हैं वे प्रायः सकाम भाव से युक्त हैं। जो इन कामनाओं से मुक्त होता है वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्ममार्ग में सुख की इच्छा रख कर प्रवृत्त होने वाला मानव परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।[९]

उपनिषदों के अतिरिक्त महाभारत और अन्य पुराणों में भी ऐसे अनेक स्थल है जहाँ आत्मविद्या या मोक्ष के लिए वेदों की असारता प्रकट की गई है। आचार्य शंकर ने श्वेताश्वतर भाष्य में एक प्रसंग उद्धृत किया है। भृगु ने अपने पिता से कहा—

---

४ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ५२।

५ दी प्रिंसिपल उपनिषदाज्, पृ० २२।

६ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
—मुण्डकोपनिषद् १।२।७३

७ माण्डूक्य० १।१।४।५

८ महाभारत शान्ति पर्व २०१।८

९ महाभारत शान्तिपर्व २०१।१०-११

'त्रयी धर्म-अधर्म का हेतु है। यह किंपाकफल के समान है। हे तात! सैकड़ों दुःखों से पूर्ण इस कर्मकाण्ड मे कुछ भी सुख नहीं है। अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हूँ।[१०]

गीता में भी यही कहा है कि त्रयी-धर्म (वैदिक धर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष संसार में आवागमन करते रहते हैं।[११] आत्मविद्या के लिए वेदों की असारता और यज्ञों के विरोध में आत्मयज्ञ की स्थापना यह वैदिकेतर परम्परा की ही देन है।[१२]

उपनिषदों मे श्रमण संस्कृति के पारिभाषिक शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। जैन आगम साहित्य में 'कषाय' शब्द का प्रयोग सहस्राधिक बार हुआ किन्तु वैदिक साहित्य मे रागद्वेष के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नही हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में 'कषाय' शब्द का राग-द्वेष के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[१३] इसी प्रकार 'तायी' शब्द भी जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर आया है पर वैदिक साहित्य में नहीं। जैन साहित्य की तरह ही माण्डूक्य उपनिषद् में भी 'तायी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१४]

मुण्डक, छान्दोग्य प्रभृति उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर श्रमण संस्कृति की विचारधाराएँ स्पष्ट रूप से झलक रही हैं। जर्मन विद्वान् हर्टल ने यह सिद्ध किया है कि मुण्डकोपनिषद् में प्रायः जैन-सिद्धान्त जैसा वर्णन है और जैन पारिभाषिक शब्द भी वहाँ व्यवहृत हुए हैं।[१५]

बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल से कहते हैं—"यह वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुँह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं। भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते हैं।.....

जो पुत्रैषणा है वही लोकैषणा है।[१६]

---

१० त्रयी धर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसन्निभः।
नास्ति तात! सुखं किंचिदत्र दुःखशताकुले॥
तस्मात् मोक्षाय यतता कथं सेव्या मया त्रयी। —श्वेताश्वतर उप० पृ० २२

११ भगवद्गीता ९।२१

१२ (क) छान्दोग्य उपनिषद् ८।५।१
(ख) बृहदारण्यक० २।२।१।१०

१३ मृदित कषायाय—छान्दोग्य उपनिषद ७-२६
शंकराचार्य ने इस पर भाष्य लिखा है—मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव कषायो। रागद्वेषादि दोषः सत्त्वस्य रंजना रूपत्वात्।

१४ माण्डूक्य उपनिषद् ९९

१५ इण्डो इरेनियन मूलग्रन्थ और संशोधन, भाग ३

१६ बृहदारण्यक० ३।५।१

इसिभासियं में भी इसिभासिय को याज्ञवल्क्य एषणात्याग के पश्चात् भिक्षा से सन्तुष्ट रहने की बात कहते है।[१७] तुलनात्मक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तब ज्ञात होता है कि दोनों के कथन में कितनी समानता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना है। वहाँ पर पुत्रैषणा के त्याग को कोई स्थान नहीं है। वृहदारण्यक में एषणा त्याग का जो विचार आया है वह श्रमण संस्कृति की देन है।

एम० विण्टरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदों को अवैदिक माना है।[१८] किन्तु यह भी सत्य है कि प्राचीनतम उपनिषद् भी पूर्ण रूप से वैदिक विचाराधारा के निकट नहीं है, उन पर भगवान अरिष्टनेमि और भगवान पार्श्वनाथ की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

यह माना जाता है कि यूनान के महान् दार्शनिक 'पाइथागोरस' भारत आये थे और वे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों के सम्पर्क में रहे।[१९] उन्होंने उन श्रमणों से आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म आदि जैन सिद्धान्तों का अध्ययन किया और फिर वे विचार उन्होंने यूनान की जनता में प्रसारित किये। उन्होंने मांसाहार का विरोध किया। कितनी ही वनस्पतियों का भक्षण भी धार्मिक दृष्टि से त्याज्य बतलाया। उन्होंने पुनर्जन्म को सिद्ध किया। आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से इस विषय पर अन्वेषण करने की।

भगवान पार्श्व का विहार क्षेत्र आर्य और अनार्य दोनों देश रहे है। दोनों ही देश के निवासी उनके परम भक्त रहे हैं।[२०]

इस प्रकार वैदिक साहित्य एवं उस पर विद्वानों की समीक्षाओं को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि उसके प्राचीनतम ग्रन्थों एवं महावीरकालीन ग्रन्थों तक मे जैन-संस्कृति, जैनदर्शन एवं धर्म की अनेक चर्चाएँ बिखरी हुई हैं, जो प्राक्तन काल मे उसके प्रभाव और व्यापकता को सिद्ध करते हैं।

तीर्थंकर और नाथ सम्प्रदाय

प्राचीन जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन-परिशीलन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि तीर्थंकरों के नाम ऋषभ, अजित, सम्भव आदि के रूप में मिलते हैं[२१] किन्तु उनके नामों के साथ नाथ-पद नहीं मिलता। यहाँ सहज ही एक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि तीर्थंकरों के नाम के साथ 'नाथ' शब्द कब और किस अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा ?

---

१७ इसिभासियाइं १२।१-२
१८ प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० १६०-१६१
१९ संस्कृति के अंचल में—देवेन्द्र मुनि, पृ० ३३-३४
२० देखिए—भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १११-११४।
२१ (क) समवायांग टीका, (ग) आवश्यकसूत्र, (ग) नन्दीसूत्र।

शब्दार्थ की दृष्टि से चिन्तन करते है तो 'नाथ' शब्द का अर्थ स्वामी या प्रभु होता है। अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्य वस्तु के संरक्षण को 'क्षेम' कहा जाता है। जो योग और क्षेम को करने वाला होता है वह 'नाथ' कहलाता है।[२२] अनाथी मुनि ने श्रेणिक से कहा—गृहस्थ जीवन मे मेरा कोई नाथ नही था। मैं मुनि बना और नाथ हो गया। अपना, दूसरों का और सब जीवों का।[२३]

दीघनिकाय में दस नाथकरण धर्मो का निरूपण है, उसमें भी क्षमा, दया, सरलता आदि सद्गुणो का उल्लेख है।[२४] जो इन सद्गुणों को धारण करता है वह नाथ है।

तीर्थंकरो का जीवन सद्गुणो का अक्षय कोष है। अतः उनके नाम के साथ नाथ उपपद लगाना उचित ही है।

भगवती सूत्र में भगवान महावीर के लिए 'लोगनाहेणं' यह शब्द प्रयुक्त हुआ है और आवश्यक सूत्र में अरिहंतों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए 'लोगनाहाणं' विशेषण आया है।

सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य यतिवृषभ ने अपने तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ मे तीर्थंकरों के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—

"भरणी रिक्खम्मि संतिणाहो य"[२५]
'विमलस्स तीसलक्खा'
अणंतणाहस्स पंचदसलक्खा"[२६]

आचार्य यतिवृषभ[२७], आचार्य जिनसेन[२८] आदि ने तीर्थंकरों के नाम के साथ ईश्वर और स्वामी पदों का भी प्रयोग किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यतिवृषभ का समय चतुर्थ शताब्दी के आस-पास माना जाता है और जिनसेन का ९वीं शताब्दी। तो चतुर्थ शताब्दी में तीर्थंकरो के नाम के साथ 'नाथ' शब्द व्यवहृत होने लगा था।

तीर्थंकरों के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनैः-शनैः इतनी अत्यधिक बढ़ी कि शैवमतानुयायी योगी अपने नाम के साथ 'मत्स्येन्द्रनाथ', "गोरखनाथ"

---

२२ नाथः योगक्षेम विधाता।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ४७३

२३ तत्तो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं तसाण थावराण य॥

—उत्तरा० २०।३५

२४ दीघनिकाय ३।११, पृ० ३१२-३१३।
२५ तिलोयपण्णत्ती ४।५४१
२६ वही, ४।५८९
२७ रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं। —तिलोय० ४।१२८३
२८ महापुराण १४।१६१, पृ० ३१९

प्रभृति रूप से नाथ शब्द का प्रयोग करने लगे। फलस्वरूप प्रस्तुत सम्प्रदाय का नाम ही 'नाथ सम्प्रदाय' के रूप में हो गया।

जैनेतर परम्परा के वे लोग, जिन्हें इतिहास व परम्परा का परिज्ञान नहीं, वे व्यक्ति आदिनाथ, अजितनाथ, पारसनाथ, के नाम पढकर भ्रम में पड़ जाते है चूंकि गोरखनाथ की परम्परा में भी नीमनाथी पारसनाथी हुए हैं। वे यह निर्णय नहीं कर पाते कि गोरखनाथ से नेमिनाथ या पारसनाथ हुए, या नेमिनाथ पारसनाथ से गोरखपंथी हुए ? यह एक ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि नाथ सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं, उनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना गया है।[२९] जबकि तीर्थंकर आदिनाथ, नेमिनाथ, पारसनाथ आदि को हुए, जैन दृष्टि से हजारों लाखों वर्ष हुए हैं। भगवान पार्श्व से नेमिनाथ ८३ हजार वर्ष पूर्व हुए थे। अतः काल-गणना की दृष्टि से दोनों में बड़ा मतभेद है। यह स्पष्ट है कि गोरखनाथ से नेमिनाथ या पारसनाथ होने की तो संभावना ही नही की जा सकती। हां, सत्य यह है कि नेमिनाथ और पारसनाथ पहले हुए हैं अतः उनसे गोरखनाथ की संभावना कर सकते हैं, किन्तु गहराई से चिंतन-मनन करने से यह भी सही ज्ञात नहीं होता, चूंकि भगवान पार्श्व विक्रम सम्वत् ७२५ से भी पूर्व हो चुके थे, जबकि मूर्धन्य मनीषियों ने गोरखनाथ को बप्पारावल के समकालीन माना है। यह बहुत कुछ संभव है कि भगवान नेमिनाथ की अहिंसक क्रान्ति ने यादववंश में अभिनव जागृति का संचार कर दिया था। भगवान पार्श्व के कमठ-प्रतिबोध की घटना ने तापसों में भी विवेक का संचार किया था। उन्हीं के प्रबल प्रभाव से नाथ परम्परा के योगी प्रभावित हुए हों, और नीमनाथी, पारसनाथी परम्परा प्रचलित हुई हो। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी सत्य-तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत किया है—

'चांदनाथ संभवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरखमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के अनुयायी जान पड़ते है। जैनसाधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरखनाथ के पूर्ववर्ती थे।[३०]

भगवान महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के नाम के साथ आज नाथ शब्द प्रचलित है, उससे यह तो ध्वनित होता ही है यह शब्द जैन परम्परा में काफी सम्मान सूचक रहा है। भगवान महावीर के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रचार नही है। अतः इसे पूर्वकालीन परम्परा का बोधक मानकर ही यहाँ पर कुछ विचार किया गया है।

---

२९ हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग ८वीं शताब्दी के आसपास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे।

देखिए—'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० २२७

३० नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १९०

प्रस्तुत ग्रन्थ

चौवीस तीर्थंकरों की जीवनगाथा पर अतीत काल से ही लिखा जाता रहा है। समवायांग में चौवीस तीर्थंकरों के नाम, उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ सम्प्राप्त होते हैं और कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, मलयगिरिवृत्ति तथा चउप्पन महापुरिसचरियं, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, महापुराण, उत्तरपुराण प्रभृति अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में २४ तीर्थंकरों के जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंग उट्टङ्कित है। प्रान्तीय भाषाओं में भी और स्वतन्त्र रूप से भी एक-एक तीर्थंकर के जीवन पर अनेकों ग्रन्थ हैं। आधुनिक युग में भी २४ तीर्थंकरों पर शोधप्रधान दृष्टि से कितने ही लेखकों ने लिखने का प्रयास किया है। राजेन्द्र मुनि जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत ही संक्षेप से और प्राञ्जल भाषा में २४ तीर्थंकरो पर लिखा है। लेखक का मूल लक्ष्य रहा है कि आधुनिक समय में मानव के पास समय की कमी है। वह अत्यन्त विस्तार के साथ लिखे गये ग्रन्थों को पढ़ नहीं पाता। वह संक्षेप में और स्वल्प समय में ही उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं, उदात्त चरित्र और प्रेरणाप्रद उपदेशों को जानना चाहता है। उन्हीं पाठकों की भावनाओं को संलक्ष्य में रखकर संक्षेप में २४ तीर्थंकरों का परिचय लिखा गया है। यह परिचय संक्षेप में होने पर भी दिलचस्प है। पाठक पढ़ते समय उपन्यास की सरसता, इतिहास की तथ्यता व निबन्ध की सुललितता का एक साथ अनुभव करेगा। उसे अपने महिमामय महापुरुषों के पवित्र चरित्रों को जानकर जीवन-निर्माण की सहज प्रेरणा मिलेगी—ऐसी आशा है।

मैं चाहता हूँ लेखक अपने अध्ययन को विस्तृत करे। वह गहराई में जाकर ऐसे सत्य तथ्यों को उजागर करे जो इतिहास को नया मोड़ दे सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक की पूर्व कृतियों की तरह जन-जन के अन्तर्मानस में अपना गौरवमय स्थान बनायेगा ऐसी मंगलकामना है।

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रमणिका

1

भगवान ऋषभदेव

(चिन्ह—वृषभ)

जैन जगत्, संस्कृति और धर्म का आज जो सुविकसित एवं परिष्कृत स्वरूप हमें दिखाई देता है, उसके मूल में महान साधकों का मौलिक योगदान रहा है। तीर्थंकरों की एक समृद्ध परम्परा को इसका सारा श्रेय है। वर्तमान काल के तीर्थंकर जिसकी अन्तिम कड़ी प्रभु महावीर स्वामी थे और इस कड़ी के आदि उन्नायक भगवान ऋषभदेव थे। उनके मौलिक चिन्तन ने ही मानव-जीवन और व्यवहार के कतिपय आदर्श सिद्धान्तों को निरूपित किया था; और वे ही सिद्धांत कालान्तर में युग की अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्धित, विकसित और सपुष्ट होते चले गये।

पूर्व-भव

श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् संस्कृति है, वह संस्कृति दो धाराओं मे विभक्त है, जिसे जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति के नाम से कहा गया है। दोनों धाराओं ने अपने आराध्य देव तीर्थंकर या बुद्ध के पूर्वभवों का चित्रण किया है। जातक कथा में बुद्धघोष ने तथागत बुद्ध के ५४७ भवों का वर्णन किया है। बुद्ध ने बोधिसत्व के रूप में राजा, तपस्वी, वृक्ष, देवता, हाथी, सिंह, कुत्ता, बन्दर, आदि अनेक जन्म ग्रहण किये और इन जन्मों में किस प्रकार निर्मल जीवन जीकर बुद्धत्व को प्राप्त किया—यह प्रतिपादन किया गया है। बुद्धत्व एक जन्म की उपलब्धि नहीं अपितु अनेक जन्मों के प्रयास का प्रतिफल था। इसी प्रकार तीर्थंकर भी अनेक जन्मों के प्रयास के पश्चात् बनते हैं। श्वेताम्बर ग्रंथों में ऋषभदेव के १३ भवों का उल्लेख है। प्रथम भव में ऋषभदेव का जीव धन्ना सार्थवाह बना जिसने अत्यन्त उदारता के साथ मुनियों को घृत-दान दिया और फलस्वरूप उसे सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई। दूसरे भव मे उत्तरकुरु भोगभूमि में मानव बने और तृतीय भव में सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए। चतुर्थ भव मे महाबल हुए एवं इस भव में ही श्रमणधर्म को भी स्वीकार किया। पांचवें भव में ललिताङ्ग देव हुए, छठे भव में वज्रजंघ तथा सातवें भव मे उत्तरकुरु भोगभूमि मे युगलिया हुए। आठवें भव में सौधर्मकल्प में देव हुए। नवमें भव में जीवानन्द नामक वैद्य हुए। प्रस्तुत भव में अपने स्नेही साथियों के साथ कृमिकुष्ठ रोग से ग्रसित मुनि की चिकित्सा करके मुनि को पूर्ण स्वस्थ किया। मुनि के सात्विक प्रवचन को सुनकर साथियों सहित दीक्षा ग्रहण कर उत्कृष्ट संयम की साधना की। दसवें भव में जीवानन्द वैद्य का जीव १२वें देवलोक में उत्पन्न हुआ। ग्यारहवें भव मे पुष्कलावती विजय में वज्रनाभ नामक चक्रवर्ती बने और संयमग्रहण कर १४ पूर्वों का अध्ययन

किया और अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन प्रभृति २० निमित्तों की आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अन्त में मासिक संलेखनापूर्वक पादपोपगमन संथारा कर आयुष्य पूर्ण किया, और वहाँ से १२वें भव में सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए और १३वें भव में विनीता नगरी में ऋषभदेव के रूप में जन्म ग्रहण किया।

मानव संस्कृति का उन्नयन

भगवान ऋषभदेव का जन्म मानव इतिहास के जिस काल विशेष में हुआ, उस परिप्रेक्ष्य में सोचा जाय तो हम पाएँगे कि भगवान ने मानव-संस्कृति एवं सभ्यता का अथवा यूं कहा जाय कि एक प्रकार से समग्र मानवता का ही निर्माण किया था। इस महती भूमिका के कारण उनके चरित्र का जो महान स्वरूप गठित होता है, वह साधारण मापदण्डों के माध्यम से मूल्यांकन से परे की वस्तु है।

मानवीय सभ्यता का अति प्रारम्भिक एवं अनिश्चित चरण चल रहा था। अन्य पशुओं एवं मनुष्य में तब कोई उल्लेखनीय अन्तर न था। पशुवत् आहार-विहारादि की सामान्य प्रक्रिया में व्यस्त मनुष्य सर्वथा प्रकृति पर ही निर्भर था। वह अपने विवेक अथवा कौशल के सहारे प्राकृतिक वैभव से अपने पक्ष में अधिक सुविधाएँ जुटा लेने की क्षमता नहीं रखता था। वृक्ष तले बसेरा करने वाला यह प्राणी वल्कल वस्त्रों से शीतातप के आघातों से अपनी रक्षा करता, वन्य कंद-मूल-फलादि सेवन कर क्षुधा-तृप्ति करता और सरितादि के निर्मल-जल से तृषा को शान्त कर लिया करता था। सीमित अभिलाषाओं का संसार ही मनुष्य का प्राप्य था। नर और नारी का युगल एक युगल सन्तति को जन्म देता, सन्तोष का जीवन व्यतीत करता और जीवन-लीला को समाप्त कर लिया करता था। शील और सन्तोष की साकार परिभाषा उस काल के मानव में दृष्टिगत हो सकती थी। मोह, लोभ, ममता, संग्रहादि की प्रवृत्तियाँ तब तक मनुष्य को स्पर्श भी न कर पाती थीं।

जीवन की परिस्थितियाँ वस्तुतः स्वर्णोपम थीं, किन्तु समय-चक्र सदा गतिशील रहता है। मानव-जीवन परिवर्तित होने लगा। उधर तो निरन्तर उपभोग से प्राकृतिक सम्पदा क्रमशः कम होने लगी और इधर उपभोक्ताओं की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। परिणामतः अभाव की स्थिति आने लगी। मनुष्यों में लोभ और फलतः संग्रह की प्रवृत्ति ने जन्म लिया। छीना-झपटी और पारस्परिक कलह होने लगा। कदाचित मानव-विकारों का यह प्रथम चरण ही था। इसी काल में भगवान ऋषभदेव का प्रादुर्भाव हुआ था और सामयिक परिस्थितियों में मानव-कल्याण की दिशा में जो महान योगदान उनकी विलक्षण प्रतिभा का रहा, वह मानव इतिहास का एक अविस्मरणीय प्रसंग बन गया। प्रजा की इस दशा ने राजा ऋषभदेव के लिए चिन्तन का द्वार खोल दिया। इस अशान्ति और क्लेश के मूल कारण के रूप में उन्होंने अभाव की परिस्थिति को पाया और अपनी प्रजा को उद्यम की ओर उन्मुख कर दिया। भगवान ने कृषि द्वारा धरती से अन्न उपजाना सिखाया। धरती माता से अन्न का दान लिया

जिसे अबोध मानव यों ही कच्चा खाकर उदर-पीड़ा से ग्रस्त होने लगा। भगवान ने यह बाधा भी दूर की। उन्होंने अग्नि प्रज्वलित की और अन्न को पका कर उसे खाद्य का रूप देना सिखाया। प्रजा की यह बाधा भी दूर हुई। श्रद्धावश अग्नि को 'देवता' माना जाने लगा।

धीरे-धीरे मानव सभ्यता का और भी विकास होने लगा। अब अग्नि की प्रचुरता तो हो ही गयी थी। भगवान ने उपयोगी वस्तुओं के विनिमय की कला सिखायी और इस प्रकार व्यवसाय भी प्रारम्भ हुआ। यह सब श्रमसाध्य कार्य था, किन्तु कुछ प्रमादी और निरुद्यमी लोगों में परिश्रम करने के स्थान पर दूसरों की सम्पदा को छल अथवा बलपूर्वक हड़पने की प्रवृत्ति पनपने लगी। अतः भगवान ने सम्पदा की रक्षा का उपाय भी सिखाया। इस प्रकार समाज मे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ग बने और विकसित होते चले गये। अब मानव-समुदाय एक समाज का रूप ग्रहण करता जा रहा था। अतः पारस्परिक व्यवहार आदि के कुछ नियमों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। यह विवेक-जागरण से ही संभव था, अतः शिक्षा का प्रचार अनिवार्य हो गया। भगवान ने यह कार्य अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को सौंपा। उन्होंने स्वयं ब्राह्मी को अक्षर ज्ञान और सुन्दरी को गणित का ज्ञान आदि चौसठ कलाओं से परिचित कराकर इस योग्य बनाया और निर्देश दिया —"पुत्रियो! तुम मनुष्यों को इन विद्याओं का ज्ञान दो, समाज को शिक्षित बनाओ। शिक्षा के साथ सदाचार, विनय, कला एवं शिल्प का विकास करो।"

स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव ने मानव सभ्यता और मानवीयता का वह बीज वपन किया था जो काल का उर्वरा क्षेत्र पाकर विशाल वट तरु के रूप में आज अनेकानेक गुणावगुणों सहित दृष्टिगत होता है। भगवान ने मनुष्य जाति को भौतिक सुखों और मानवता से युक्त तो किया ही; इससे कहीं अधिक महत्त्वमयी सम्पदा से भी मानवता को अलंकृत करने की एक श्रेष्ठ उपलब्धि भी उनकी ही रही है। यह उपलब्धि उनके कृतित्व का श्रेष्ठतम अंश है और वह है— आध्यात्मिक गति। उन्होंने अपनी प्रजा की भौतिक सुख-सुविधा के लिए घोर परिश्रम किया। स्वयं भी इनका पर्याप्त उपभोग किया, किंतु वे इसमें खोये कभी नहीं। अनुरक्ति के स्थान पर अनासक्ति ही उनके आचरण की विशेषता बनी रही। स्वयं भगवान का सन्देश-कथन इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है, जो उनके पुत्रों के प्रति किया गया था—

"......यह विकास अपूर्ण है। केवल भोग ही हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। हमारा ध्येय होना चाहिए परम आत्म-शान्ति की प्राप्ति। इसके लिए काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकारों का ध्वंस आवश्यक है।"

इन विकारों को परास्त करने के लिए भगवान ने सत्ता, वैभव और सांसारिक सुखों को त्यागकर योग का मार्ग अपनाने का संकल्प किया। वे मानवमात्र को कल्याण का मार्ग दिखाना चाहते थे। भगवान के इस कृतित्व ने उन्हें अत्युच्च गौरव प्रदान किया और तीर्थंकरत्व की गरिमा से अलंकृत कर दिया।

जन्म-वंश

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे का अन्तिम चरण चल रहा था। तभी चैत्र कृष्णा अष्टमी को माता मरुदेवा ने भगवान ऋषभदेव को जन्म दिया। कुलकर वंशीय नाभिराजा आपके पिता थे। पुत्र के गर्भ में आने पर माता ने १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया था जिनमें से प्रथम स्वप्न वृषभ सम्बन्धी था। नवजात शिशु के वक्ष पर भी वृषभ का ही चिह्न था अतः पुत्र को ऋषभकुमार नाम से ही पुकारा जाने लगा।

ऋषभकुमार का हृदय परदुःखकातर एवं परम दयालु था। इस सम्बन्ध में उनके जीवन के अनेक प्रसंग स्मरण किये जाते हैं। एक प्रसंग तो ऐसा भी है जिसने आगे चलकर उनके जीवन में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। बालक-बालिकाओं का एक युगल क्रीडामग्न था। यह युग्म ऐसा था जो प्रचलित प्रथानुसार भावी दाम्पत्य जीवन में एक-दूसरे का साथी होने वाला था। ताल वृक्ष के तले खेलते इस युगल पर दुर्भाग्यवश ताल का पका हुआ फल गिर पड़ा और बालक की मृत्यु हो गयी। बिलखती बालिका अकेली छूट गयी। भगवान का हृदय पसीज गया। बालमृत्यु की यह असाधारण और अभूतपूर्व घटना थी, जिससे सब विचलित हो गये थे। विमुग्ध बालिका को सब लोग ऋषभदेव के पास लाये और भगवान ने इस बालिका को यथासमय अपनी जीवन संगिनी बनाने का वचन दिया।

उचित वय प्राप्ति पर ऋषभकुमार ने उस कन्या 'सुनन्दा' के साथ विवाह कर अपने वचन को पूरा किया और विवाह-परम्परा को एक नया मोड़ दिया। साथ ही अपने युगल की कन्या सुमंगला से भी विवाह किया और प्रचलित परिपाटी का निर्वाह किया। रानी सुनन्दा ने परम तेजस्वी पुत्र बाहुबली और पुत्री सुन्दरी को तथा रानी सुमंगला ने भरत सहित ९९ पुत्रों एवं पुत्री ब्राह्मी को जन्म दिया। यथासमय पिता नाभिराज ऋषभकुमार को समस्त राजसत्ता सौंप कर निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे।

संसार-त्याग

सामाजिक सुख-वैभव में जीवन-यापन करते हुए भी भगवान ऋषभदेव सर्वदा वीतरागी बने रहे। योग्य वय हो जाने पर उन्होंने अयोध्या के सिंहासन पर भरत को आसीन किया, बाहुबली को तक्षशिला का नरेश बनाया तथा शेष पुत्रों को योग्यतानुसार अन्य राज्यों का स्वामी बनाकर वे संसार त्याग कर साधना-लीन होने को तत्पर हुए। उनके इस त्याग का व्यापक प्रभाव हुआ। यह महान् घटना चैत्र कृष्णा अष्टमी की है, जब उत्तराषाढ़ नक्षत्र का योग था; अनेक नरेशों सहित ४००० पुरुषों ने भगवान के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने लक्ष्य और मार्ग से परिचित भगवान ऋषभदेव तो साधना-पथ पर निरन्तर अग्रसर होते गये किन्तु इस ज्ञान से रहित अन्य

लोग कठोर तप से विचलित हो गये और नाना प्रकार की भ्रान्तियों में ग्रस्त होकर अस्त-व्यस्त हो गये।

साधना

भगवान ऋषभदेव कठोर तप और ध्यान की साधना करते हुए जनपद में विचरण करने लगे। दृढ़ मौन उनकी साधना का विशिष्ट अंग था। श्रद्धालु जनता का अपार समूह अपार धनवैभव की भेंट के साथ उनके स्वागत को उमड़ा करता था। ऐसे प्रतापी पुरुष के लिए अन्नादि की भेंट को वे तुच्छ मानते थे। लोगों के इस अज्ञान से परिचित ऋषभदेव अपनी साधना में अटल रहे कि प्राणी को अन्न की परमावश्यकता होती है, मणि माणिक्य की नहीं। इसी प्रकार एक वर्ष से भी कुछ अधिक समय निराहारी अवस्था में ही व्यतीत हो गया।

प्रभु ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का पौत्र श्रेयांसकुमार उन दिनों गजपुर का नरेश था। एक रात्रि को उसने स्वप्न देखा कि वह मेरु पर्वत को अमृत से सींच रहा है। स्वप्न के भावी फल पर विचार करता हुआ श्रेयासकुमार प्रातः राजप्रासाद के गवाक्ष में बैठा ही था कि नगर में ऋषभदेव का पदार्पण हुआ। जनसमूह की विविध भेंटों को संकेत मात्र से अस्वीकार करते हुए वे अग्रसर होते जा रहे थे। श्रेयांस कुमार को लगा जैसे सचमुच सुमेरु ही उसके भवन की ओर गतिशील है। वह प्रभु सेवा में पहुँचा और उनसे अपना आंगन पवित्र करने की अनुनय-विनय की। उसके यहां इक्षुरस के कलश आये ही थे। राजा ने प्रभु से यह भेंट स्वीकार करने का श्रद्धापूर्वक आग्रह किया। करपात्री भगवान ऋषभदेव ने एक वर्ष के निराहार के पश्चात् इक्षुरस का पान किया। देवताओं ने दुंदुभी का घोषकर हर्ष व्यक्त किया और पुष्प, रत्न, स्वर्णादि की वर्षा की।

केवलज्ञान

एक हजार वर्ष पर्यन्त भगवान ने समस्त ममता को त्यागकर, एकान्त सेवी रहते हुए कठोर साधना की और आत्म-चिन्तन में लीन रहे। साधना द्वारा ही सिद्धि सम्भव है और पुरुषार्थ ही पुरुष को महापुरुष तथा आत्मा को परमात्मा पद प्रदान करता है आदि सिद्धान्तों का निर्धारण ही नहीं किया, प्रभु ने उनको अपने जीवन में भी उतारा था। पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी को अष्टम तप के साथ भगवान को केवलज्ञान की शुभ प्राप्ति हुई। परम शुक्लध्यान में लीन प्रभु को लगा जैसे आत्मा पर से घनघाती कर्मों का आवरण दूर हो गया है और सर्वत्र दिव्य प्रकाश व्याप्त हो गया है, जिससे समस्त लोक प्रकाशित हो उठा है।

ठीक इसी समय सम्राट भरत को चक्रवर्ती बनाने वाले चक्ररत्न और पितृत्व का गौरव प्रदान वाले पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी। तीनों शुभ समाचार एक साथ पाकर भरत हर्ष-विह्वल हो उठे और निश्चय न कर पाये कि प्रथमतः कौन-सा उत्सव

मनाया जाये। अन्ततः यह सोचकर कि चक्र प्राप्ति अर्थ का और पुत्र प्राप्ति काम का फल है, किन्तु केवलज्ञान धर्म का फल है और यही सर्वोत्तम है—इस उत्सव को ही उन्होंने प्राथमिकता दी।

देशना एवं तीर्थ-स्थापना

माता मरुदेवा ने भरत से भगवान ऋषभनाथ के केवलज्ञान प्राप्ति का समाचार सुना तो उनके वृद्ध, शिथिल शरीर में भी स्फूर्ति व्याप्त हो गयी। उसका मन अपने पुत्र को देख लेने को व्यग्र था। वह भी भरत के साथ भगवान का कैवल्य महोत्सव मनाने गयी। माता ने देखा अशोक वृक्ष तले सिंहासनारूढ़ पुत्र ऋषभदेव के श्रीचरणों में असंख्य देवी-देवता नमन कर रहे हैं, अनेकधा पूजा-अर्चना कर रहे हैं और प्रभु देशना दे रहे हैं। भाव-विभोर माता का वात्सल्य भाव भक्ति में बदल गया। विरक्ता मरुदेवा उज्ज्वल शुक्लध्यान में लीन होकर सिद्ध-बुद्ध हो गयी। कर्मों का आवरण छिन्न हो गया और वह मुक्त हो गयी। उसे दुर्लभ निर्वाणपद की सहज उपलब्धि हो गयी। स्वयं भगवान ने इस आशय की घोषणा की कि इस युग की सर्वप्रथम मुक्ति-गामिनी मरुदेवा सिद्ध भगवती हो गयी है।

मरीचि : प्रथम परिव्राजक

सम्राट भरत के पुत्र मरीचि ने भगवान की देशना से उद्बुद्ध होकर भगवान के श्री चरणों में ही दीक्षा ग्रहण करली और दीक्षित होकर साधना प्रारम्भ की। साधना का मार्ग जितना कठिन है और इस मार्ग में आने वाली परीषह-बाधाएँ जितनी कठोर होती हैं उतनी ही कोमल कुमार मरीचि की काया थी। फलतः उन भीषण व्रतों और प्रचण्ड उपसर्ग-परीषहों को वह झेल नहीं पाया तथा कठोर साधना की पगडंडी से च्युत हो गया। उसके समक्ष समस्या आ खड़ी हुई—न तो वह इस संयम का निर्वाह कर पा रहा था और न ही पुनः गृहस्थ-मार्ग पर आरूढ़ हो पा रहा था। वह समस्या का निदान खोजने लगा और अपनी स्थिति के अनुरूप उसने एक नवीन वीतराग-स्थिति की मर्यादाओं की कल्पना की। श्रमण-धर्म से उसने संभाव्य बिन्दुओं का चयन किया और उनका निर्वाह करते हुए वैराग्य के एक नवीन वेश में विचरण करने का निश्चय किया। उसका यह नवीन रूप—'परिव्राजक वेश' के रूप में प्रकट हुआ। यहीं से परिव्राजक धर्म की स्थापना हुई, जिसका उन्नायक मरीचि था और वही प्रथम परिव्राजक था। परिव्राजक मरीचि बाद में भगवान के साथ विचरण करता रहा। मरीचि ने अनेक जिज्ञासुओं को दशविध श्रमण-धर्म की शिक्षा दी और भगवान का शिष्यत्व स्वीकार करने को प्रेरित किया। सम्राट भरत के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा था कि इस सभा में एक व्यक्ति ऐसा भी है जो मेरे बाद बनने वाली २४ तीर्थंकरों की परम्परा में अंतिम तीर्थंकर बनेगा और वह है—मरीचि। अपने पुत्र के इस भावी उत्कर्ष से प्रसन्न होकर सम्राट भरत गद्गद हो गये। भावी तीर्थंकर मरीचि का उन्होंने अभिनन्दन किया। कुमार चरित मरीचि का निश्चय था।

उसने मरीचि द्वारा स्थापित परिव्राजक धर्म को सुनियोजित रूप दिया। इस नवीन परम्परा का व्यवस्थित समारम्भ किया।

सुन्दरी और ब्राह्मी : वैराग्य-कथा

भगवान ऋषभदेव की दोनों पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी सतियों में अग्र-स्थान रखती है। ये बाल ब्रह्मचारिणी थीं। नाम ही के लिए इनका विवाह हुआ था, अन्यथा न तो इन्होंने विवाहित जीवन व्यतीत किया और न ही इनका प्रत्यक्ष पाणिग्रहण संस्कार हुआ था।

भगवान को केवलज्ञान का लाभ होते ही ब्राह्मी ने दीक्षा ग्रहण करली थी किन्तु सुन्दरी को यह सौभाग्य उत्कट अभिलाषा होते हुए भी तुरन्त नहीं मिल पाया। कारण यह था कि सम्राट भरत ने तदर्थ अपनी अनुमति उसे प्रदान नहीं की। वह चाहता था कि चक्रवर्ती पद प्राप्त कर मैं सुन्दरी को स्त्रीरत्न नियुक्त करूँ। कतिपय विद्वानों (आचार्य जिनसेन प्रभृति) की मान्यतानुसार तो सुन्दरी ने भी भगवान की प्रथम देशना से प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण करली, किन्तु शेष विद्वज्जनों का इस तथ्य के विषय में मतैक्य नहीं पाया जाता। उनके अनुसार सुन्दरी ने सम्राट की अनुमति के अभाव मे उस समय तो दीक्षा ग्रहण नहीं की, किन्तु उसका मन सांसारिक विषयों से विरक्त हो गया था। संयम-रंग में रंगा उसका मन संसार में नहीं रम सका और उसने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया। सुन्दरी प्रथम श्राविका बनी। घटना-चक्र इस प्रकार रहा कि ज्योंही सम्राट भरत ने षट् खण्ड पृथ्वी पर विजय स्थापना के प्रयोजन से प्रस्थान किया था—उसी समय सुन्दरी ने आयम्बिल तप आरम्भ कर दिया था। चक्रवर्ती पद की सम्पूर्ण गरिमा प्राप्त करने में भरत को ६० हजार वर्ष का समय लग गया था। जब वह इस परम गौरव के साथ लौटा तो उसने पाया कि सुन्दरी अत्यन्त कृषकाय हो गयी है। उसे ज्ञात हुआ कि जब उसने सुन्दरी को दीक्षार्थ अनुमति नहीं दी थी, उसने उसी दिन से आचाम्लव्रत आरम्भ कर दिया था। भरत के हृदय में मन्थन मच गया। उसने सुन्दरी से अपना मन्तव्य प्रगट करने को कहा—'तुम गृहस्थ-जीवन का निर्वाह करना चाहती हो अथवा संयम स्वीकार करना?' निश्चित था कि सुन्दरी दूसरे विकल्प के विषय में ही अपनी दृढ़ता प्रकट करती। हुआ भी ऐसा ही। सम्राट ने अपनी अनुमति प्रदान कर दी और सुन्दरी भी प्रव्रज्या ग्रहण कर साध्वी हो गयी।

९८ पुत्रों को देशना

तीर्थंकरत्व धारण कर भगवान ने सर्वजनहिताय दृष्टिकोण के साथ व्यापक क्षेत्रों मे विहार किया और जन-जन को बोध प्रदान किया। असंख्य जन प्रतिबुद्ध होकर आत्मकल्याण की साधना में लग गये थे। जैसा कि वर्णित किया जा चुका है भगवान १०० पुत्रों के जनक थे। इनमें से भरत ज्येष्ठ था, जो भगवान का उत्तराधिकारी हुआ और शासन करने लगा था। शेष ९९ पुत्रों को भी स्वयं भगवान ने

यथा योग्यतानुसार छोटे-मोटे राज्यों का राज्यत्व प्रदान किया था। इनमें से भी बाहुबली नामक नरेश बड़ा प्रतापी और शक्तिशाली था।

आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति पर महाराज भरत को चक्रवर्ती सम्राट बनने की प्रबल प्रेरणा मिली और उन्होंने तदर्थ अभियान प्रारम्भ किया था। जब भरत ने अपने पराक्रम और शक्ति के बल पर देश-देश के नृपतियों से अपनी अधीनता स्वीकार करा ली तो अब एकछत्र सम्राट बनने की बलवती भावना उसे अपने इन ६८ बन्धुओं पर भी विजय-स्थापना के लिए उत्साहित करने लगी।

निदान राजा भरत ने इन बन्धु नरेशों को सन्देश भेजा कि या तो वे मेरी अधीनता स्वीकार करलें या युद्ध के लिए तत्पर हो जाएँ। इस सन्देश में जो आतंक लिपटा हुआ था, उसने इन नरेशों को विचलित कर दिया। पिता के द्वारा ही इन्हें ये राज्यांश प्रदान किये गये थे और भरत के अपार वैभव, सत्ता और शक्ति के समक्ष ये नगण्य से थे। भरत को कोई अभाव नहीं, फिर भी सत्ता के मद और इच्छाओं के शासन से ग्रस्त भरत अपने भाइयों को भी त्रास-मुक्त नहीं रखना चाहता था। वस्तुतः भरत इन पर विजय प्राप्त किये बिना चक्रवर्ती बनता भी कैसे ? अतः उसके लिए यह अनिवार्य भी था, किन्तु ये क्षत्रिय नरेश कायरतापूर्वक अपने राज्य भरत की सेवा में अर्पण भी कैसे कर दें ? और यदि ऐसा न करें तो अपने ज्येष्ठ भ्राता के विरुद्ध युद्ध भी कैसे करें ? इस समस्या पर सभी बन्धुओं ने मिलकर गंभीरता से विचार किया, किन्तु समस्या का कोई हल उनसे निकल नहीं सका। उनके मन में आतंक भी जमा बैठा था और तीव्र अन्तर्द्वन्द्व भी। ऐसी अत्यन्त कोमल परिस्थिति में उन्होंने भगवान से मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का निश्चय किया और यह निश्चय किया कि भगवान जो निर्णय और सुझाव देंगे वही हमारे लिए आदेश होगा। हम सभी भगवान के निर्देश का अक्षरशः पालन करेंगे।

यह निश्चय कर वे सभी अपने पिता तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। भगवान के समक्ष अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए निर्देशार्थ वे सभी प्रार्थना करने लगे। भगवान ने उन्हें अत्यन्त स्नेह के साथ प्रबोध दिया। उन्होंने अपनी देशना में कहा कि सृष्टि का एक शाश्वत नियम है—'मत्स्य न्याय'। बड़ी मछली छोटी मछली को अपना आहार बना लेती है और वह भी अपने से बड़ी मछली के लिए आहार बन जाती है। इस प्रकार सर्वाधिक शक्तिशाली का ही अस्तित्व अवशिष्ट रहता है। शक्तिहीनों का उसी में समाहार हो जाता है। मनुष्य की इस सहज प्रवृत्ति का अपवाद भरत भी नहीं है। उसने चक्रवर्ती सम्राट बनने का लक्ष्य निर्धारित किया है, तो वह तुम लोगों पर भी विजय प्राप्त करना ही चाहेगा। बन्धुत्व का सम्बन्ध उसके इस मार्ग में बाधक नहीं बने—यह भी स्वाभाविक है। प्रभु कुछ क्षण मौन रहकर फिर मधुर गिरा से बोले—पुत्रो ! यह उसका सत्ता और पद का मद है जिसे प्रतिबंधित कर पाने का सामर्थ्य तो तुम लोगों में नहीं है, किन्तु तुम भी क्षत्रिय वीर

हो। इस प्रकार कायरता के साथ तुम उसे राज्य समर्पित कर उसकी अधीनता स्वीकार करलो यह भी अशोभनीय है। इस अधीनता से तो यही स्पष्ट प्रकट होगा कि आत्म-सम्मान और क्षत्रियोचित मर्यादाओं को त्याग कर भी तुम सांसारिक सुखोपभोग के लिए लालायित हो। इस प्रकार नश्वर और असार विषयों के पीछे भागना तुम जैसे पराक्रमियों के लिए क्या लज्जा का विषय नहीं होगा ?

विजय प्राप्त करने की लालसा तुम लोगों में भी उतनी ही बलवती है, जितनी भरत के मन में ! पुत्रो, विजयी बनो, अवश्य बनो, किन्तु भरत पर विजय प्राप्त करने की कामना त्याग दो। यह तो सांसारिक और अतिक्षुद्र विजय होगी, जो तुम्हें विषयों में अधिकाधिक ग्रस्त करती चली जायगी। विजय प्राप्त करो तुम स्वयं पर, अपने अन्तर के विकारों पर विजयी होना ही श्रेयस्कर है। मोह और तृष्णा रूपी वास्तविक और घातक शत्रुओं का दमन करो। इस प्रकार की विजय ही आगे से आगे की नयी विजयों के द्वार खोल कर अनन्त शान्ति तथा शाश्वत सुख के लक्ष्य तक तुम्हें पहुँचाएगी। त्याग दो सांसारिक एषणाओं और विकारों को। नश्वर विषयों से चित्त को हटाकर अनासक्त हो जाओ और साध जागृत करो—सच्चे आत्म-कल्याण के लिए।

इस गंभीर और कल्याणकारी देशना ने पुत्रों का कायापलट ही कर दिया। वे चिन्तन में लीन बैठे रह गये और विराग की उत्कट भावना उनके हृदयों में ठाठें मारने लगी। सांसारिक भोग-लालसा से वे अनासक्त हो गये। एक स्वर में सभी ने अब भगवान से निवेदन किया कि 'हमें आज्ञा दें प्रभु कि हम भी आपके मार्ग पर अनुसरण करें'। पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर ये सभी भरत-अनुज भगवान के शिष्य बन गये। महाराज भरत के लिए इन ९८ भाइयों ने अपने-अपने राज्यों का त्याग कर दिया और स्वयं आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो गये। भगवान की अगणित देशनाओं में से अपने पुत्रों के प्रति दी गयी यह देशना अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है।

भरत ने जब अपने इन भाइयों का यह आचरण सुना तो उसके हृदय पर बड़ा गहरा आघात हुआ। वह अपने बन्धुओं के पास आया और उनसे अपने-अपने राज्य पुनः ग्रहण कर निर्बाध सत्ता का भोग करने को कहा। किन्तु ये राज्य तो अब उनके लिए अति तुच्छ थे—वे तो अति विशाल और अनश्वर राज्य को प्राप्त कर चुके थे।

पुत्र बाहुबली को केवलज्ञान

भगवान का यह द्वितीय पुत्र था जो एक सशक्त और शूरवीर शासक था। जब तक यह स्वाधीन राज्य-भोग करता रहे—भरत एकछत्र साम्राज्य का स्वामी नहीं कहला सकता था। अतः अपनी कामनाओं का बन्दी भरत इसे अपने अधीन करने की योजना बनाने लगा। उसने अपना दूत बाहुबली के पास भेजकर सन्देश पहुँचाया कि मेरी अधीनता स्वीकार करलो, या फिर भीषण संघर्ष और विनाश के लिए तत्पर हो जाओ। यह सन्देश प्राप्त कर तेजस्वी भूपति बाहुबली की त्योरियाँ चढ़ गयीं। क्योंकि

होकर राजा ने कहा कि अपनी शक्ति के गर्व में भरत ने भगवान द्वारा निर्धारित की गयी सारी राज्य-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया है। मैं उसे इस अपराध के लिए क्षमा नहीं करूँगा। मेरे शेष भाइयों की भाँति मैं उसकी अधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। मैं उससे युद्ध करने को तत्पर हूँ। उसके अभिमान को चूर-चूर कर दूँगा। बाहुबली का यह विचार जानकर सम्राट भरत को भी क्रोध आया और उसने अपनी विशाल सेना लेकर बाहुबली पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। समरांगण में रक्त की सरिताएँ प्रवाहित होने लगीं। इस भयंकर नर-संहार को देखकर बाहुबली का मन विचलित हो उठा। निरीह जनों का यह संहार उसे व्यर्थ प्रतीत होने लगा। उसके करुण हृदय में एक भावना उद्भूत हुई कि दो भाइयों के दर्प के लिए क्यों इतना विनाश हो ? उसने भरत के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सेना को विश्राम करने दिया जाय और हम दोनों द्वन्द्वयुद्ध करें और इसका परिणाम ही दोनों पक्षों को मान्य हो तथा उनकी स्थितियों का निर्धारण करे। प्रस्ताव को भरत ने स्वीकार कर लिया।

अब दोनों भाई द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और मुष्टि-युद्ध में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विजय बाहुबली के पक्ष में रही। भरत पराजित होकर निस्तेज होता जा रहा था। यदि अन्तिम रूप से भी बाहुबली ही विजयी रहता है, तो चक्रवर्ती सम्राट होने का गौरव उसे प्राप्त हो जाता है, भरत को नहीं। बड़ी नाजुक परिस्थिति भरत के समक्ष आ उपस्थित हुई। इसी समय देवताओं ने भरत को चक्रायुध प्रदान किया। पराजय की कुंठा से ग्रस्त भरत ने चक्र से बाहुबली पर प्रहार किया। यह अनीति थी, द्वन्द्वयुद्ध की मर्यादा का उल्लंघन था और इसे बाहुबली सहन न कर सका। परम शक्तिशाली बाहुबली ने इस आयुध को हस्तगत कर उसी से भरत पर प्रहार करने का विचार किया, किन्तु तुरन्त ही सँभल गया। सोचा—क्या असार विषयों के उपभोग के लिए मेरा यह अनीतिपूर्ण चरण उचित होगा, सर्वथा नहीं। भरत ने अपने भाई पर ही प्रहार किया था, अतः चक्र भी बाहुबली की परिक्रमा लगाकर वैसे ही लौट आया। भरत को अपनी इस पराजय पर घोर आत्मग्लानि का अनुभव होने लगा। बाहुबली के जय-जयकार से नभो-मंडल गूँज उठा। भयंकर रोष के आवेश में जब बाहुबली ने भरत पर मुष्टि प्रहार के लिए अपनी भुजा ऊपर उठाई थी, तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी थी। सभी दिशाओं से क्षमा""क्षमा का स्वर आने लगा। उसकी उठी हुई भुजा उठी ही रह गयी और वह एक क्षण को सोचने लगा कि एक की भूल के उत्तर में दूसरा क्यों भूल करे ? क्षमा और प्रेम, शान्ति और अहिंसा हमारे कुल के आदर्श हैं और बाहुबली ने भरत पर प्रहार का अपना विचार त्याग दिया। भरत के मस्तक के स्थान पर उनकी मुष्टि स्वयं अपने ही सिर पर आयी और बाहुबली ने पंचमुष्टि लुंचन कर श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया।

दीक्षा ग्रहण करने के लिए बाहुबली भगवान ऋषभदेव के चरणाश्रय में जाना चाहते थे, किन्तु उनका दर्प बाधक बन रहा था। इस हिचक के कारण उनके चरण बढ़ते ही नहीं थे कि संयम और साधना के मार्ग पर उनके ९८ छोटे भाई उनसे भी

पहले आगे बढ़ गये हैं। साधना जगत् में कुछ अर्जित करलूं तो उनके पास जाऊँगा—यह सोचकर बाहुबली वन में ध्यानस्थ खड़े हो गये और तपस्या करने लगे। घोर तप उन्होंने किया। एक वर्ष तक सर्वथा अचंचल अवस्था में ध्यान-लीन खड़े रहे, किन्तु इच्छित केवलज्ञान की झलक तक उन्हें दिखाई नहीं दी।

भगवान ने अपने पुत्र की इस स्थिति को जान लिया और ब्राह्मी एवं सुन्दरी को उसके पास बोध देने के लिए भेजा। बहनों ने भाई को मधुर-मधुर स्वर लहरी में सम्बोधित कर कहा—'तुम हाथी पर आरूढ़ हो। हाथी पर बैठे-बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। नीचे उतरो और उस अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लो।'

बाहुबली ने बहनों का कथन सुना और आश्चर्यचकित रह गया। सोचने लगा मैं तो भूतल पर खड़ा तपस्या कर रहा हूँ। मेरे लिए हाथी पर आरूढ़ होने की बात कैसे कही जा रही है ? किन्तु ये साध्वियाँ है और साध्वियों का कथन कभी असत्य या मिथ्या नहीं होता। क्षणभर में ही वे समझ गये कि मेरा दर्प ही हस्ती का प्रतीक है। हाँ, मैं अभिमान के हाथी पर तो बैठा हुआ ही हूँ। यह बोध होते ही उसका सारा दर्प चूर-चूर हो गया। अत्यन्त विनय के साथ अपने अनुजो को श्रद्धा सहित प्रणाम करने के विचार से वे ज्यों ही कदम बढ़ाने को प्रस्तुत हुए कि तत्क्षण केवलज्ञान-केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगा उठा।

भरत द्वारा निर्वाण प्राप्ति

अखंड भारत के एकछत्र साम्राज्य का सत्ताधीश होकर भी सम्राट् भरत के मन में न तो वैभव के प्रति आसक्ति का भाव था और न ही अधिकारों के लिए लिप्सा का। सुशासन के कारण वह इतना लोकप्रिय हो गया था कि उसी के नाम को आधार मान कर इस देश को भारत अथवा भारतवर्ष कहा जाने लगा। सुदीर्घकाल तक वह शासन करता रहा, किन्तु केवल दायित्व पूर्ति की कामना से ही ; अन्यथा अधिकार, सत्ता, ऐश्वर्य आदि के भोग की कामना तो उसमें रंचमात्र भी नहीं थी।

भगवान ऋषभदेव विचरण करते-करते एक समय राजधानी विनीता नगरी में पधारे। वहाँ भगवान से किसी जिज्ञासु द्वारा एक प्रश्न पूछा गया, जिसके उत्तर में भगवान ने यह व्यक्त किया कि चक्रवर्ती सम्राट् भरत इसी भव में मोक्ष की प्राप्ति करेंगे। भगवान की वाणी अक्षरशः सत्य घटित हुई। इसका कारण यही था कि साम्राज्य के भोगोपभोगो में वह मात्र तन से ही संलग्न था, मन से तो वह सर्वथा निर्लिप्त था। सम्यग्दर्शन के आलोक से उसका चित्त जगमग करता रहता था। उन्हें अन्ततः केवलज्ञान, केवलदर्शन उपलब्ध हो गया। भवान्तर में उन्हें निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी और वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।

परिनिर्वाण

दीक्षित होकर भगवान ऋषभदेव ने तप और साधना द्वारा केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की। केवली बनकर उन्होंने अपनी प्रभावपूर्ण देशनाओं द्वारा अगण्य

जनों के लिये आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। अपनी आयु के अन्तिम समय में भगवान अष्टापद पर्वत पर पधार गये। वहाँ आप चतुर्थ भक्त के अनशन तप में ध्यान-लीन होकर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में प्रविष्ट हुए। भगवान ने वेदनीय, आयु नाम और गोत्र के चार अघाति कर्म नष्ट कर दिये। माघ कृष्णा त्रयोदशी को अभिजित नक्षत्र की घड़ी में भगवान ने समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

भगवान के धर्मसंघ में लगभग ८४ हजार श्रमण थे और कोई ३ लाख श्रमणियाँ। भगवान के ८४ गणधर थे। प्रत्येक के साथ श्रमणों का समूह था जिसे 'गण' कहा जाता था। सम्पूर्ण श्रमण संघ विभिन्न गुणों के आधार पर ७ श्रेणियों में विभाजित था—

(१) केवलज्ञानी (२) मनःपर्यवज्ञानी (३) अवधिज्ञानी (४) वैक्रिय-लब्धिधारी (५) चौदह पूर्वधारी (६) वादी और (७) सामान्य साधु।

भगवान ऋषभदेव के धर्म-परिवार की सुविशालता के सन्दर्भ में निम्न तालिका उल्लेखनीय है—

गणधर	८४
केवली	२०,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१२,६५०
अवधिज्ञानी	६,०००
वैक्रियलब्धिधारी	२०,६००
चौदह पूर्वधारी	४,७५०
वादी	१२,६५०
साधु	८४,०००
साध्वी	३,००,०००
श्रावक	३,०५,०००
श्राविका	५,५४,०००

□□

2

भगवान अजितनाथ

(चिन्ह—हाथी)

मानव-सभ्यता के आद्य-प्रवर्त्तक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के उन्नायक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पश्चात् भगवान अजितनाथ का अवतरण द्वितीय तीर्थंकर के रूप में हुआ। यह उल्लेखनीय ऐतिहासिक तथ्य है कि इन दोनों के अवतरण के मध्य शून्य का एक सुदीर्घकालीन अन्तराल रहा।

पूर्वभव

मानवमात्र के जीवन का स्वरूप पूर्वजन्मों के संस्कारों पर निर्भर करता है। जन्म-जन्मान्तरों में कर्मशृंखला का जो रूप रहता है तदनुरूप ही वर्तमान जीवन रहा करता है। वर्तमान जीवन की उच्चता-निम्नता अतीतकालीन स्वरूपों का ही परिणाम होती है। भगवान अजितनाथ का जीवन भी इस नियम का अपवाद नहीं था।

भगवान अजितनाथ पूर्वजन्म में महाराजा विमलवाहन थे। नरेश विमलवाहन अत्यन्त कर्त्तव्यपरायण और प्रजावत्सल थे। अपार शौर्य के धनी होने के साथ-साथ भक्ति के क्षेत्र में भी वे अप्रतिम स्थान रखते थे। वे युद्धवीर थे, साथ ही साथ उच्चकोटि के दानवीर, दयावीर और धर्मवीर भी थे। महाराजा के चरित्र की इन विशेषताओं ने उनके व्यक्तित्व को अद्भुत गरिमा और अपार कीर्ति का लाभ कराया था। विशाल वैभव और अधिकारों के महासरोवरों में विहार करते हुए भी वे कमलवत् निर्लिप्त रहे। सांसारिक सुखोपभोगों के प्रति उनके मन में रंचमात्र भी अनुरक्ति का भाव नहीं था।

राजा विमलवाहन में चिन्तन की मौलिक प्रवृत्ति भी थी जो प्रायः उन्हें आत्मलीन रखती थी। वे गम्भीरतापूर्वक सोचा करते कि मैं भी एक साधारण मनुष्य हूँ—ऐसा मनुष्य जो क्षणिक स्वार्थ के क्रिया-कलापों में ही अपना समग्र जीवन समाप्त कर देता है। इसे अपने जीवन का परम और चरम लक्ष्य मानकर वह अन्यों के लिए भय, सन्ताप, कष्ट और चिन्ता का कारण बना रहता। पाप कर्मों में उसे बड़ा रस मिलता है। यही नहीं; शारीरिक सुखों, प्रतिष्ठा, स्वनाम-अमरता आदि थोथी वस्तुओं के लिए भी अपने आप को भी नाना प्रकार के कष्टों और जोखिमों में डालता रहता है। यह सब तो मनुष्य करता ही रहता है, किन्तु आत्मोत्थान की दिशा में वह

तनिक भी नहीं सोच पाता। जीवन का यह असार रूप ही क्या मनुष्य को मनुष्य कहलाने का अधिकारी बना पाता है ? क्या इसी में मानव-जीवन की सफलता निहित रहती है ? जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन राजा विमलवाहन का स्वभाव ही हो गया था।

एक समय का प्रसंग है कि आचार्य अरिदमन का आगमन इस नगर में हुआ। आचार्यश्री उद्यान में विश्राम कर रहे थे। महाराजा ने जब यह समाचार पाया तो उनके हृदय में नवीन प्रेरणा, उत्साह और हर्ष जागृत हुआ। उल्लसित होकर महाराजा उद्यान में गये और आचार्य के दर्शन कर गद्गद हो गये। आचार्य के त्यागमय जीवन का महाराजा के मन पर गहरा प्रभाव हुआ। आचार्य से विरक्ति और त्याग का उपदेश पाकर तो उनका हृदय-परिवर्तन ही हो गया। समस्त दुविधाएँ, समस्त वासनाएँ शान्त हो गयीं। एक अभीष्ट मार्ग उन्हें मिल गया था, जिस पर वे यात्रा के लिए वे संकल्पबद्ध हो गये।

विरक्त होकर महाराजा विमलवाहन ने यौवन में ही जगत् का त्याग कर दिया। वे राज्यासन पर पुत्र को आरूढ़ कर स्वयं तपस्या के लिए अनगार बन गये। मुनि जीवन में विमलवाहन ने अत्यन्त कठोर तप-साधना की और उन्हें अनुपम उपलब्धियाँ भी मिलीं। ५ समिति, ३ गुप्ति की भावना के अतिरिक्त भी अनेकानेक तप, अनुष्ठान आदि में वे सतत् रूप से व्यस्त रहे। एकावली, रत्नावली, लघुसिंह-महासिंह-निष्क्रीड़ित आदि तपस्याएँ सम्पन्न कर ये कर्म-निर्जरा में सफल रहे और बीस बोल की आराधना कर उन्होंने तीर्थंकर नाम-कर्म भी उपार्जित किया था। परिणामतः जब उन्होंने अनशन कर देह त्यागा, तो विजय विमान में वे अहमिन्द्र देव के रूप में उद्भूत हुए।

जन्म एवं वंश

विनीता नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी धर्मपत्नी महारानी विजया देवी अति धर्मपरायणा महिला थी। इसी राजपरिवार में विमलवाहन का जीव राजकुमार अजितनाथ के रूप में अवतरित हुआ था। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रोहिणी नक्षत्र के सुन्दर योग में विमलवाहन का जीव विजय विमान से च्युत हुआ था और उसी रात्रि में महारानी विजया देवी ने गर्भ धारण किया था। गर्भवती महारानी ने १४ महान स्वप्नों का दर्शन किया। परिणामोत्सुक महाराजा जितशत्रु ने स्वप्न-फल-द्रष्टाओं को ससम्मान निमन्त्रित किया, जिन्होंने स्वप्नों की सारी स्थितियों से अवगत होकर विचारपूर्वक उनके भावी परिणामों की घोषणा करते हुए कहा कि महारानी ऐसे पुत्र की जननी बनने वाली हैं जो महान चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर होगा। सामुद्रिकों की इस घोषणा से राजपरिवार ही नहीं समूचे राज्य में हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। इस परम मंगलकारी भावी उद्भव के शुभ प्रभाव अभी से ही लक्षित होने लगे थे। उसी रात्रि में महाराजा जितशत्रु के अनुज सुमित्र की धर्मपत्नी ने भी गर्भ

धारण किया और उसने भी ऐसे ही १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया था—यह इसका प्रमाण है। सुमित्र ने भी यथासमय चक्रवर्ती पुत्र-रत्न की प्राप्ति की थी।

यथोचित अवधि समाप्त होने पर महारानी विजया देवी ने पुत्र को जन्म दिया। शिशु के शुभ पदार्पण मात्र से ही सर्वत्र अद्भुत आलोक व्याप्त हो गया। धरा-गगन प्रसन्नता से झूम उठे। चहुँ ओर उत्साह का साम्राज्य फैल गया। नारक जीव भी कुछ पलों के लिए अपने घोर कष्टों को विस्मृत कर आनन्दानुभव करने लगे थे।

यह माघ शुक्ला अष्टमी की शुभ तिथि थी, जब भगवान का जन्म कल्याणक पृथ्वी तल के नरेन्द्रों ने ही नहीं देवेन्द्रों ने भी सोत्साह मनाया। असंख्य देवताओं ने पुष्प-वर्षा और मंगलगान द्वारा आत्मिक हर्ष को व्यक्त किया था। जितशत्रु ने याचकों की मनोकामनाओं को पूर्ण करते हुए अपार दान किया और कारागार के द्वार खोल दिये।

जब से राजकुमार अजित माता के गर्भ मे आये तब से ही एक विशेष प्रभाव यह हुआ कि पिता राजा जितशत्रु को कोई पराजित नहीं कर सका— वह अजित ही बना रहा। अतः माता-पिता ने पुत्र का नामकरण 'अजितनाथ' किया। नामकरण के औचित्य का निर्धारण एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है कि राजा और महारानी परस्पर विविध प्रकार के खेल खेला करते थे। इनमें महारानी की कभी विजय होती, तो कभी पराजय; किन्तु जब तक यह तेजस्वी पुत्र गर्भ में रहा महारानी अजित बनी रहीं, उन्हें राजा परास्त नहीं कर सके। अतः पुत्र का नामकरण इस रूप मे हुआ।

गृहस्थ-जीवन

बाल्यावस्था से ही राजकुमार अजितनाथ मे अपने पूर्व जन्म के संस्कारों का प्रभाव दृष्टिगत होने लग गया था और यह प्रभाव उत्तरोत्तर प्रबलता धारण करता रहा। प्रभुत्व, ऐश्वर्य, अधिकार-सम्पन्नता—क्या नहीं था उनके लिए ? किन्तु उन्हें इनमें रुचि नहीं रही। वे तटस्थ भाव से ही राजपरिवार मे रहते थे। बड़े से बड़ा आकर्षण भी उनकी तटस्थता को विचलित नहीं कर पाता था। प्रमाणस्वरूप उनके जीवन का यह महत्त्वपूर्ण प्रसंग लिया जा सकता है कि माता-पिता ने सर्व प्रकार से योग्य और अनिंद्य सुन्दरियों को कुमार के विवाहार्थ चुना और कुमार का उनके साथ पाणि-ग्रहण भी हुआ, किन्तु यह अजितनाथ की स्वेच्छा से नहीं हुआ था। मात्र माता-पिता का अत्याग्रह और उनकी आज्ञापालन का जो दृढभाव था—उसी भावना ने उनको विवाह के लिए बाध्य किया।

इसी प्रकार वृद्धावस्था आ जाने पर जब पिता जितशत्रु ने आत्मकल्याण में प्रवृत्त होने का विचार किया एवं अजितनाथ से शासन सूत्र सँभालने को कहा तो मन से विरक्त कुमार ने प्रथमतः राजा के आग्रह को सविनय अस्वीकार करते हुए सुझाव दिया कि चाचा (सुमित्र) को आसनारूढ़ किया जाये। उन्होंने कहा कि मैं इस सत्ता-

धिकार को व्यर्थ का जंजाल मानता हूँ। अतः इन बन्धनों से मुक्त ही रहना चाहता हूँ—और फिर चाचा भी सर्वभाँति योग्य हैं। परिस्थितियाँ विपरीत रहीं। चाचा ने राजा का पद स्वीकार करने के स्थान पर अजितनाथ से ही राजा बनने का प्रबल अनुरोध किया। माता-पिता का आग्रह था ही। इन सब कारणों से विवश होकर उन्हें शासन-सूत्र अपने हाथों में लेना पड़ा।

महाराजा अजितनाथ ने प्रजापालन का दायित्व अत्यन्त कौशल और निपुणता के साथ निभाया। राज्य भर में सुख-शान्ति का ही प्रसार था। व्यवस्थाएँ निर्बाध रूप से चलती थीं और सारे राज्य की समृद्धि भी विकसित होने लगी थी। अजितनाथ अपनी इस भूमिका के कर्त्तव्य वाले अंश में ही रुचिशील रहे थे। अधिकारों वाले पक्ष की ओर वे उदासीन बने रहे। अन्ततः उन्होंने विनीता राज्य का समस्त भार अपने चचेरे अनुज सगर (सुमित्र का पुत्र, जो दूसरा चक्रवर्ती था) को सौंपकर स्वयं दीक्षित हो जाने का संकल्प कर लिया। वस्तुतः अब तक भोगावलि के कर्मभार का प्रभाव क्षीण हो गया था, अतः विरक्ति भाव का उदय स्वाभाविक ही था।

दीक्षा ग्रहण एवं केवलज्ञान

अजितनाथ के संकल्प से प्रभावित होकर स्वयं लोकान्तिक देवों ने उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अनुरोध किया। एक वर्ष आपने दानादि शुभकार्यों में व्यतीत किया और तदनन्तर माघ शुक्ला नवमी के शुभ दिन दीक्षा ग्रहण कर ली। सहस्राम्र-वन में अजितनाथ ने पंचमुष्टिक लोचकर सम्पूर्ण सावद्य कर्मों का त्याग किया। असंख्य दर्शकों ने जय-जयकार किया। दीक्षा की महत्ता से प्रभावित होकर अजितनाथ के साथ ही १००० अन्य राजा व राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। उस समय स्वयं अजितनाथ बेले की तपस्या में थे। दीक्षा ग्रहण के तुरन्त पश्चात् ही उन्हें मनःपर्यव-ज्ञान का लाभ हुआ। आगामी दिवस राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ प्रभु अजितनाथ का प्रथम पारणा क्षीरान्न से सम्पन्न हुआ था।

बारह वर्षों का सुदीर्घकाल प्रभु ने कठोर तप और साधना में व्यतीत किया। सच्ची निष्ठा और लगन के साथ साधना व्यस्त भगवान अजितनाथ गाँव-गाँव विहार करते रहे। विचरण करते-करते वे जब पुनः अयोध्या नगरी में पहुँचे तो पौष शुक्ला एकादशी को उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे केवली हो गये थे, अरि-हन्त (कर्म शत्रुओं के हननकर्ता) हो गये थे। अरिहन्त के १२ गुण भगवान में उदित हुए।

प्रथम देशना

केवली प्रभु अजितनाथ का समवसरण हुआ। प्रभु ने अमोघ और दिव्य देशना दी और इस प्रकार वे 'धर्म-तीर्थ' की गरिमा से सम्पन्न हो गये। प्रभु की देशना अलौकिक और अनुपम प्रभावयुक्त थी। ३५ वचनातिशययुक्त प्रभु के वचनों का

श्रोताओं पर सघनरूप से प्रभाव हुआ। वैराग्य की महिमा को हृदयंगम कर वे श्रद्धा से नमित हो गए। असंख्यजनों ने सांसारिक सुखोपभोगों की असारता से अवगत होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रभु की वाणी के महिमामय चमत्कार का परिचय इस तथ्य से भी प्राप्त होता है कि उससे प्रेरित होकर लाखों स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। प्रभु ने अपनी देशना द्वारा चतुर्विध संघ की स्थापना की।

परिनिर्वाण

७२ लाख पूर्व की आयु पूर्ण होने पर भगवान अजितनाथ को अनुभव होने लगा कि उनका अन्तिम समय अब समीप ही है और उन्होंने सम्मेत शिखर की ओर प्रयाण किया। वहाँ प्रभु ध्यानलीन होकर स्थिर हो गये। इस प्रकार उनका एक माह का अनशन व्रत चला और चैत्र शुक्ला पंचमी को आपको निर्वाण की प्राप्ति हुई—वे बुद्ध और मुक्त हो गए।

प्रभु के परिनिर्वाण के पश्चात् भी पर्याप्त दीर्घकाल तक आपके द्वारा स्थापित धर्मशासन चलता रहा और इस माध्यम से असंख्य आत्माओं का कल्याण होता रहा।

धर्म-परिवार

भगवान अजितनाथ का धर्म-परिवार बड़ा विशाल था। उसका परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

गणधर	९५
केवली	२२,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१,४५०
अवधिज्ञानी	९,४००
चौदह पूर्वधारी	३,५००
वैक्रियलब्धिधारी	२०,४००
वादी	१२,४००
साधु	१,००,०००
साध्वी	३,३०,०००
श्रावक	२,९८,०००
श्राविका	५,४५,०००

□□

3

भगवान संभवनाथ

(चिन्ह—अश्व)

भगवान अजितनाथ के परिनिर्वाण के पश्चात् पुनः दीर्घ अन्तराल व्यतीत होने पर तृतीय तीर्थंकर भगवान संभवनाथ का अवतरण हुआ। आपके इस जन्म के महान् कार्य, गरिमापूर्ण व्यक्तित्व एवं तीर्थंकरत्व की उपलब्धि पूर्वजन्म के शुभसंस्कारों का सुपरिणाम था।

पूर्व जन्म

प्राचीनकाल में क्षेमपुरी राज्य में एक न्यायी एवं प्रजापालक नरेश विपुल-वाहन का शासन था। वह अपने सुकर्मों और कर्त्तव्यपरायणता के आधार पर असाधारणतः लोकप्रिय हो गया था। मानव-हित की भावना और सेवा की प्रवृत्ति ही मनुष्य को महान् बनाती है—इस तथ्य को महाराजा विपुलवाहन का सदाचार भलीभाँति प्रमाणित कर देता है।

महाराजा विपुलवाहन के शासनकाल में क्षेमपुरी एक समय घोर विपत्तियों मे घिर गयी थी। वर्षा के अभाव में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। अकाल की भीषण विभीषिका ताण्डव नृत्य करने लगी। हाहाकार की गूँज से प्रतिपल व्योम आपूरित रहता और ये नये मेघ राजा की हृदयधरा पर वेदना की ही वर्षा करते थे। अन्यथा जलदाता मेघ तो चारों ओर से घिरकर आते भी तो सांसारिक वैभव की असारता की ही पुष्टि करते हुए बिना बरसे ही बिखर जाते और प्रजा की निराशा पहले की अपेक्षा कई गुनी अधिक बढ़ जाती। जलाशयों के पेंदों में दरारें पड़ गयीं। नदी, नाले, कूप, सरोवर कहीं भी जल की बूँद भी शेष नहीं रही। भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर प्राणी देह त्यागने लगे।

इस दुर्भिक्ष ने जैसे मानवमात्र को एक स्तर पर ही ला खड़ा कर दिया था। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के समस्त भेद समाप्त हो गये थे। सभी क्षुधा की शान्ति के लिए चिन्तित थे। अन्नाभाव के कारण सभी कंद-मूल, वन्यफल, वृक्षों के पल्लवों और छालों तक से आहार जुटाने लगे। यह भण्डार भी सीमित था। अभागी प्रजा की सहायता यह वानस्पतिक भण्डार भी कब तक करता? जन-जीवन घोर कष्टों को सहन करते-करते क्लान्त हो चुका था।

स्वयं राजा भी अपनी प्रजा के कष्टों से अत्यधिक दुःखी था। उसने नर-

सक प्रयत्न किया, किन्तु दैविक विपत्ति को वह दूर नहीं कर सका। क्षुधित प्रजा के लिए नरेश विपुलवाहन ने समस्त राजकीय अन्न-भण्डार खोल दिये। उच्चवंशीय धनाढ्य जन भी याचकों की भाँति अन्न-प्राप्ति की आशा लगाये खड़े रहने लगे। राजा सभी की सहायता करता और सेवा से उत्पन्न हार्दिक प्रसन्नता में निमग्न-सा रहता। प्रत्येक वर्ग की देख-भाल वह स्वयं किया करता और सभी को यथोचित अन्न मिलता रहे—इसकी व्यवस्था करता रहता था।

क्षेमपुरी में विचरणशील श्रमणों और त्यागी गृहस्थों पर इस प्राकृतिक विपदा का प्रभाव अत्यन्त प्रचण्ड था। ये किस गृहस्थ के द्वार जाकर आहार की याचना करते? सभी तो संकट-ग्रस्त थे। चाहते हुए भी तो कोई साधुजनों को भिक्षा नहीं दे पाता था। धार्मिक प्रवृत्ति पर भी यह एक विचित्र संकट था। ये श्रमणजन दीर्घ उपवासों के कारण क्षीण और दुर्बल हो गये थे। जब राजा विपुलवाहन को इनकी संकटापन्न स्थिति का ध्यान आया तो वह दौड़कर श्रमणजन के चरणों में पहुँचा, श्रद्धा सहित नमन किया और बार-बार गिड़गिड़ाकर क्षमा-याचना करने लगा कि अब तक वह इनकी सेवा-सत्कार नहीं कर सका। उसे अपनी इस भूल पर बड़ा दुःख हो रहा था। राजा ने अत्यन्त आग्रह के साथ उन्हें निमंत्रित किया और प्रार्थना की कि मेरे लिए तैयार होने वाले भोजन में से आप कृपापूर्वक अपना आहार स्वीकार करें। राजा का आग्रह स्वीकृत हो गया। सभी श्रमणजन, त्यागी गृहस्थ, समस्त श्री संघ अब भिक्षार्थ राजमहल में आने लगा।

राजा विपुलवाहन ने अपने अधिकारियों को आदेश दे रखा था कि मेरे लिए जो भोजन तैयार हो, उसमे से पहले श्रमणों को भेंट किया जाय। जो कुछ शेष रहेगा मैं तो उसी से सन्तुष्ट रहूँगा। हुआ भी ऐसा ही और कभी राजा को क्षुधा-शान्ति के लिए कुछ मिल जाता और कभी तो वह भी प्राप्त नहीं हो पाता, किन्तु उसे जन-सेवा का अपार सन्तोष बना रहता था। उसका विचार था कि मैं स्वादिष्ट, श्रेष्ठ व्यंजनों का सेवन करता रहूँगा तो वैसी परिस्थिति मे मुझे न तो श्रमणों के दान का फल प्राप्त होगा और न ही मेरी प्रजा के कष्टों का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे हो सकेगा।

मानव मात्र के प्रति सहानुभूति और सेवा की उत्कट भावना और संघ की सेवा के प्रतिफल स्वरूप राजा विपुलवाहन ने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। कालान्तर में राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर वह दीक्षा ग्रहण कर साधना-पथ पर अग्रसर हुआ। कठोर तपस्याओं-साधनाओं के पश्चात् जब उसका आयुष्य पूर्ण हुआ तो उसे आनत स्वर्ग में स्थान प्राप्त हुआ।

जन्म-वंश

श्रावस्ती नगरी में उन दिनों महाराज जितारि का राज्य था। महारानी सेनादेवी उसकी धर्मपत्नी थी। विपुलवाहन का जीव इसी राजपरिवार में पुत्र रूप

में उत्पन्न हुआ था। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र में वह पुण्यशाली जीव स्वर्ग से च्युत होकर महारानी सेनादेवी के गर्भ में आया और रानी ने चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर की जननी होने का फल देने वाले चौदह महाशुभ स्वप्नों का दर्शन किया। स्वप्नफल-दर्शकों की घोषणा से राज्य भर में उल्लास प्राप्त हो गया। अत्यन्त उमंग के साथ माता ने संयम-नियम पूर्वक आचरण-व्यवहार के साथ गर्भ का पोषण किया। उचित समय आने पर मृगशिर शुक्ला चतुर्दशी की अर्द्धरात्रि को रानी ने उस पुत्र-रत्न को जन्म दिया, जिसकी अलौकिक आभा से समस्त लोक आलोकित हो गया।

युवराज के जन्म से सारे राज्य में अद्भुत परिवर्तन होने लगे। सभी की समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि होने लगी। धान्योत्पादन कई-कई गुना अधिक होने लगा। इसके अतिरिक्त महाराज जितारि को अब तक असम्भव प्रतीत होने वाले कार्य संभव हो गये, स्वतः ही सुगम और करणीय हो गये। अतः माता-पिता ने विवेक पूर्वक अपने पुत्र का नाम रखा—'संभव कुमार।'

अनासक्त गृहस्थ जीवन

युवराज संभवकुमार ज्यों-ज्यों आयु प्राप्त करने लगा, उसके सुलक्षण और शुभकर्म प्रकट होते चले गये। शीघ्र ही उसके व्यक्तित्व में अद्भुत तेज, पराक्रम और शक्ति-सम्पन्नता की झलक मिलने लगी। अल्पायु में ही उसे अपार ख्याति प्राप्त होने लगी थी। उपयुक्त वय प्राप्त करने पर महाराजा जितारि ने श्रेष्ठ और सुन्दर कन्याओं के साथ युवराज का विवाह किया। जितारि को आत्म-कल्याण की लगन लगी हुई थी, अतः वह अपने उत्तराधिकारी संभवकुमार को राज्यादि समस्त अधिकार सौंपकर स्वयं विरक्त हो गया और साधनालीन रहने लगा।

अब संभवकुमार नरेश थे। वे अपार वैभव और सत्ताधिकार के स्वामी थे। सुखोपभोग की समस्त सामग्रियाँ उनके लिए सुलभ थीं; स्वर्गोपम जीवन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। किन्तु संभवकुमार का जीवन इन सब भोगों में व्यस्त रहकर व्यर्थ हो जाने के लिए था ही नहीं। अपनी इस महिमायुक्त स्थिति के प्रति वे उदासीन रहते थे। प्रत्येक सुखकर और आकर्षक वस्तु के पीछे छिपी उसकी नश्वरता का, अनित्यता का ही दर्शन संभवकुमार को होता रहता था और उन वस्तुओं के प्रति उनकी रुचि बुझ जाती। चिन्तनशीलता और गंभीरता के नये रंग उनके व्यक्तित्व में गहरे होने लगे।

अनासक्त भाव से ही वे राज्यासन पर विराजित और वैभव-विलास के वातावरण में विहार करते रहे। भौतिक समृद्धियों और ऐश्वर्य की अस्थिरता से तो वे परिचित हो ही गये थे। उन्होंने साधनहीनों को अपना कोष लुटा दिया। अपार मणि-माणिक्यादि सब कुछ उन्होंने उदारतापूर्वक दान कर दिया। भोगों के यथार्थ और वीभत्स स्वरूप के साथ उनका परिचय हो गया। उनकी चिन्तनशीलता की

प्रवृत्ति ने उन्हें अनुभव करा दिया था कि जैसे विपाक्त व्यंजन प्रत्यक्षतः बड़े स्वादु होते हुए भी अन्ततः घातक ही होते हैं—ठीक उसी प्रकार की स्थिति सांसारिक सुखों और भोगों की हुआ करती है। वे बड़े सुखद और आकर्षक लगते हुए भी परिणामों में अहितकर होते है, ये आत्मा की बड़ी भारी हानि करते हैं। अज्ञान के कारण ही मनुष्य भोगों के इस यथार्थ को पहचानने मे असमर्थ है वह उसके छद्म रूप को ही उसका सर्वस्व मान बैठा है। संभवनाथ को यह देखकर घोर वेदना होती कि असंख्य कोटि आत्माएँ श्रेष्ठतम 'मानव-जीवन' प्राप्त कर भी अपने चरम लक्ष्य–'मोक्ष-प्राप्ति' के लिए सचेष्ट नहीं है। इस उच्चतर उपलब्धि से वह लाभान्वित होने के स्थान पर हीन प्रयोजनों में इसे व्यर्थ करता जा रहा है। मानवयोनि की महत्ता से वह अपरिचित है।

महाराजा संभवनाथ को जब यह अनुभव गहनता के साथ होने लगा तो सर्वजनहिताय बनने की उत्कट कामना भी उनके मन में जागी और वह उत्तरोत्तर बलवती होने लगी। उन्होंने निश्चित किया कि मैं सोई हुई आत्माओं को जागृत करूँगा, मानव-जाति को उसके उपयुक्त लक्ष्य से परिचित कराऊँगा और उस लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग भी दिखाऊँगा। अब मेरे शेष जीवन की यही भूमिका रहेगी। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि मैं स्वयं इस आदर्श मार्ग पर चलकर अन्यों को अनुसरण के लिए प्रेरित करूँगा। मैं अपना उदाहरण भटकी हुई मानवता के समक्ष प्रस्तुत करूँगा। तभी जनसामान्य के लिए सम्यक् बोध की प्राप्ति समव होगी।

चिन्तन के इस स्तर पर पहुँचकर ही महाराजा के मन मे त्याग का भाव प्रबल हुआ। वे अपार सम्पत्ति के दान में प्रवृत्त हो गये थे। भोगावली कर्मों के निरस्त होने तक संभवनाथ चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वाङ्ग काल तक सत्ता का उपभोग करते रहे। इसके पश्चात् वे अनासक्त होकर विश्व के समक्ष अन्य ही स्वरूप में रहे। अब वे विरक्त हो गये थे।

दीक्षा-ग्रहण : केवलज्ञान

स्वयं-बुद्ध होने के कारण उन्हें तीर्थंकरत्व प्राप्त हो गया था। तीर्थंकरों को अन्य दिशा से उद्बोधन अथवा उपदेश की आवश्यकता नहीं रहा करती है। तथापि मर्यादा निर्वाह के लिए लोकान्तिक देवों ने आकर अनुरोध भी किया और प्रभु संभव-नाथ ने भी प्रव्रज्या ग्रहण करने की कामना व्यक्त की।

भगवान द्वारा किये गये त्याग का प्रारम्भ से ही बड़ा व्यापक और सघन प्रभाव रहा। दीक्षा-ग्रहण के प्रयोजन से जब वे गृह-त्याग कर सहस्राम्रवन पहुंचे, तो उनके साथ ही एक हजार राजा भी गृह-त्याग कर उनके पीछे चल पड़े। मृगशिर सुदी पूर्णिमा वह शुभ दिवस था जब प्रभु ने मृगशिर नक्षत्र के योग में दीक्षा ग्रहण करली, संयम धर्म स्वीकार कर लिया। चक्षुः, श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों तथा मान, माया,

लोभ और क्रोध इन चार कषायों पर वे अपना दृढ़ नियंत्रण स्थापित कर चुके थे। दीक्षा-ग्रहण के साथ ही साथ आपको मनःपर्यवज्ञान का लाभ हो गया था।

दीक्षा के आगामी दिवस प्रभु ने सावत्थी नगरी के महाराजा सुरेन्द्र के यहाँ अपना प्रथम पारणा किया। प्रभु ने अपना शेष जीवन कठोर तप-साधना को समर्पित कर दिया। चौदह वर्ष तक सघन वनों, गहन कंदराओं, एकान्त गिरि शिखरों पर ध्यान-लीन रहे, मौनपूर्वक साधना-लीन रहे। छद्मावस्था में ग्रामानुग्राम विहार करते रहे। अन्ततः अपने तप द्वारा प्रभु घनघाती कर्मों के विनाश में समर्थ हुए। उन्हें श्रावस्ती नगरी में कार्तिक कृष्णा पंचमी को मृगशिर नक्षत्र के शुभ योग में केवलज्ञान-केवलदर्शन का लाभ हो गया।

प्रथम देशना

प्रभु संभवनाथ ने अनुभव किया था कि युग भौतिक सुखों की ओर ही उन्मुख है। धर्म, वैराग्य, त्याग आदि केवल सिद्धान्त की वस्तुएँ रह गयी थीं। इनके मर्म को समझने और उनको व्यवहार में लाने को कोई रुचिशील नहीं था। घोर भोग का वह युग था। प्रभु ने अपनी प्रथम देशना में इस भोग-निद्रा में निमग्न मानव जाति को जागृत किया। उन्होंने जीवन की क्षण-भंगुरता और सांसारिक सुखोपभोगों की असारता का बोध कराया। जगत के सारे आकर्षण मिथ्या हैं—यौवन, रूप, स्वजन-परिजन-सम्बन्ध, धन, विलास सब कुछ नश्वर हैं। इनके प्रभाव की क्षणिकता को मनुष्य अज्ञानवश समझ नहीं पाता और उन्हें शाश्वत समझने लगता है। यह अनित्यता में नित्यता का आभास ही समस्त दुःखों का मूल है। यह नित्यता की कल्पना मन में अमुक वस्तु के प्रति अपार मोह जागृत कर देती है और जब स्वधर्मानुसार वह वस्तु विनाश को प्राप्त होती है, तो उसके अभाव में मनुष्य उद्विग्न हो जाता है, दुःखी हो जाता है। जो यह जानता है कि अस्तित्व ग्रहण करने वाली प्रत्येक वस्तु विनाशशील है, उसे वस्तु के विनाश पर शोक नहीं होता। प्रभु ने उपदेश दिया कि भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व और प्रभाव को क्षणिक समझो, उसके प्रति मन में मोह को घर न करने दो। परिग्रह के बन्धन से मन को मुक्त रखो और ममता की प्रवंचना को प्रभावी न होने दो। आसक्ति से दूर रहकर शाश्वत सुख के साधन आत्मधर्म का आश्रय ग्रहण करो।

प्रभु के उपदेश से असंख्य भटके मनों को उचित राह मिली, भ्रम की निद्रा टूटी और यथार्थ के जागरण में प्रवेश कर हजारों स्त्री-पुरुषों में विरक्ति की प्रेरणा अंगड़ाई लेने लगी। मिथ्या जगत् का त्याग कर अगणित जनों ने मुनिव्रत ग्रहण किया। बड़ी संख्या में गृहस्थों ने श्रावक व्रत ग्रहण किये। प्रभु ने चार तीर्थ की स्थापना भी की और भाव तीर्थंकर कहलाए।

परिनिर्वाण

चैत्र शुक्ला पंचमी को मृगशिर नक्षत्र में प्रभु संभवनाथ ने परिनिर्वाण की

प्राप्ति की। इस समय वे एक दीर्घ अनशन व्रत में थे। शुक्लध्यान के अन्तिम चरण में प्रवेश करने पर प्रभु को यह परम पद प्राप्त हुआ और वे सिद्ध हो गये, बुद्ध और मुक्त हो गये। आपने साठ लाख पूर्व वर्षों का आयुष्य पाया था।

धर्म-परिवार

प्रभु संभवनाथ के व्यापक प्रभाव का परिचय उनके अनुयायियों की संख्या की विशालता से भी मिलता है। श्री चारूजी भगवान के प्रमुख शिष्य थे। शेष धर्म-परिवार का विवरण निम्नानुसार है—

गणधर	१०२
केवली	१५,०००
मन:पर्यवज्ञानी	१२,१५०
अवधिज्ञानी	९,६००
चौदह पूर्वधारी	२,१५०
वैक्रियलब्धिधारी	१९,८००
वादी	१२,०००
साधु	२,००,०००
साध्वी	३,३६,०००
श्रावक	२,९३,०००
श्राविका	६,३६,०००

□□

4

भगवान अभिनन्दननाथ

(चिन्ह—कपि)

भगवान अभिनन्दन संभवनाथ के पश्चात् अवतरित चौथे तीर्थंकर हैं। भगवान अभिनन्दन का जीवन, कृतित्व और उपलब्धियाँ जीवन-दर्शन के इस तथ्य का एक सुदृढ़ प्रमाण है कि महान कार्यों के लिए पूर्वभव की श्रेष्ठता और उच्चता अनिवार्य नहीं हुआ करती। साधारण आत्मा भी तप, साधना, उदारता, क्षमा आदि की प्रवृत्तियों के सघन अपनाव द्वारा महात्मा और क्रमशः परमात्मा का गौरव प्राप्त कर सकता है।

पूर्वभव

प्राचीन काल में रत्नसंचया नाम का एक राज्य था। रत्नसंचया का राजा था—महाबल। जैसा राजा का नाम था वैसी विशेषताएँ भी उसमें थीं। वह परम पराक्रमी और शूर-वीर नरेश था। उसने अपनी शक्ति से अपने राज्य का सुविस्तार किया। समस्त शत्रुओं के अहंकार को ध्वस्त कर उसने अनुपम विजय गौरव का लाभ किया। इन शत्रु राज्यों को अपने अधीन कर उसने अपनी पताका फहरा दी। इस रूप में उसे अपार यश प्राप्त हुआ। सर्वत्र उसकी जय-जयकार गूंजने लगी थी।

पराक्रमी महाराजा महाबल के जीवन में भी एक अतिउद्दीप्त क्षण आया। उसे आचार्य विमलचन्द्र के उपदेशामृत का पान करने का सुयोग मिला, जिसका अनुपम प्रभाव उस पर हुआ। अब राजा ने अपनी दृष्टि बाहर से हटाकर भीतर की ओर करली। उसका यह गर्व चूर-चूर हो गया कि मैं सर्वजेता हूँ, मैंने शत्रु-समाज का सर्वनाश कर दिया है। उसने जब अन्तर में झाँका तो पाया कि अभी अनेक आन्तरिक शत्रु उसकी निरन्तर हानि करते चले जा रहे हैं। उसने अनुभव किया कि मैं काम-क्रोधादि अनेक प्रबल शत्रुओं से घिरा हुआ हूँ। ये शत्रु ही मुझ पर नियंत्रण जमाये हुए हैं और इनके संकेत से ही मेरा कार्य-कलाप चल रहा है। मैं सत्ताधीन हूँ इस विशाल साम्राज्य का किंतु दास हूँ इन विकारों का। इनके अधीन रहते हुए मैं विजयी कैसे कहला सकता हूँ। चिंतनशील महाराज महाबल के मन में ज्ञान-दीप प्रज्वलित हो गया जिसके आलोक में ये आन्तरिक शत्रु अपने भयंकर वेश में स्पष्टतः दिखायी देने लगे। इनको विनष्ट करने का दृढ़ संकल्प धारण कर महाबल इस नये युद्ध के लिए साधन-सामग्री जुटाने के प्रयोजन से संसार-विरत हो गया।

दीक्षोपरान्त मुनि महाबल ने सहिष्णुतापूर्वक अत्यंत कठोर साधना की। वह ग्रामानुग्राम विचरण करता, हिंसक पशुओं से भरे भयंकर वनों में विहार करता और साधनालीन रहा करता। जिन-जिन स्थानों पर उसे अधिक पीड़ा होती, उपद्रवी और अनुदार जनता उसे कष्ट पहुँचाती—उन स्थानों मे ही वह प्रायः अधिक रहता और स्वयं भी अपने को भौतिक पदार्थों के अभाव की स्थिति में रखता था। विषम वातावरण में रहकर उसने प्रतिकूल उपसर्गों में स्थिरचित्त रहने की साधना का यह 'क्षमा' के उत्कृष्ट तत्त्व को दृढ़तापूर्वक अपनाता चला गया। सुदीर्घ एव कठोर तप तथा उच्च कोटि की साधना द्वारा मुनि महाबल ने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया। महाबल की आत्मा ने उस पंचभूत शरीर को त्याग कर देवयोनि प्राप्त की। वह विजय विमान में अनुत्तर देव बना।

जन्म-वंश

अयोध्या नगरी मे राजा संवर का शासन काल था। उनकी धर्म-पत्नी रानी सिद्धार्था अपने अचल शील और अनुपम रूप के लिए अपने युग में अतिविख्यात थी। इसी राज-परिवार में मुनि महाबल के जीव ने देवलोक से च्युत होकर जन्म धारण किया। तीर्थंकरों की माताओं के समान ही रानी ने १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाने लगा कि किसी पराक्रमशील महापुरुष का अवतरण होने वाला है व कालान्तर मे यह अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। यथा समय रानी ने पुत्र को जन्म दिया। इस अद्वितीय तेजवान सन्तान के उत्पन्न होने के अनेक सुप्रभाव दृष्टिगत हुए। सर्वत्र हर्ष का ज्वार आ गया। अपनी प्रजा का अतिशय हर्ष (अभिनन्दन) देखकर राजा को अपने नवजात पुत्र के नामकरण का आधार मिल गया और कुमार को 'अभिनन्दन' नाम से पुकारा जाने लगा। बालक अभिनन्दन कुमार न केवल मृदुलगात्र अपितु आकर्षक, मनमोहक एवं अत्यंत रूपवान भी था। यहाँ तक कि देवी-देवताओं के मन में भी इनके साथ क्रीड़ारत रहने की अभिलाषा जागृत होती थी। उन्हें स्वयं भी बालरूप धारण कर अपनी कामना-पूर्ति करने को विवश होना पड़ता था।

गृहस्थ-जीवन

क्रमशः अभिनन्दन कुमार शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकसित होते रहे और यौवन के द्वार पर आ खड़े हुए। स्वभाव से वे चिंतनशील और गंभीर थे। सांसारिक सुखों व आकर्षणों में उनको तनिक भी रुचि नहीं थी। अपने अन्तर्जगत् में शून्य और रिक्तता का अनुभव करते थे। अनेक सुन्दरियों से उनका विवाह भी सम्पन्न हो गया, किंतु रमणियों का आकर्षक सौंदर्य और राज्य वैभव भी उनको भोगोन्मुख नहीं बना सका। राजा संवर ने आत्म-कल्याण हेतु दीक्षा ग्रहण कर जब अभिनन्दन कुमार का राज्याभिषेक कर दिया, तो यह उच्च अधिकार पाकर भी वे अप्रभावित रहे। उनकी तटस्थता में कोई अन्तर नहीं आया। ज्यों-ज्यों वे विविध पदार्थों से सम्पन्न होते

गये त्यों-ही-त्यों भौतिक जगत् के प्रति असारता का भाव भी उनके मन में प्रबलतर होता गया।

दीक्षाग्रहण

पद में प्रायः एक मद रहा करता है जो व्यक्ति को गौरव के साथ-साथ ग्रस्तता भी देता चलता है। सम्राट के समान शक्तिपूर्ण और अधिकार-सम्पन्न उच्च पद पर रहकर भी राजा अभिनन्दन मानसिक रूप से वीतरागी ही बने रहे। दर्प अथवा अभिमान उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाया। काजल की कोठरी में रहकर भी उन्होंने कालिख की एक लीक भी नहीं लगने दी। इसी अवस्था में उन्होंने अपने पद का कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक पूर्ण किया। साढ़े छत्तीस लाख पूर्व की अवधि तक उन्होंने नीति एवं कर्त्तव्य का पालन न केवल स्वयं ही किया, अपितु प्रजाजन को भी इन सन्मार्गों पर गतिशील रहने को प्रेरित किया। प्रजावत्सलता के साथ शासन करके अन्ततः उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की अपनी उत्कट कामना को व्यक्त किया। अभीचिअभिजित नक्षत्र के श्रेष्ठयोग में माघ शुक्ला द्वादशी को बेले की तपस्या में रत अभिनन्दन स्वामी ने संयम ग्रहण कर संसार का त्याग कर दिया। सिद्धों की साक्षी रही और प्रभु ने पंचमुष्टि लोच किया। उनके साथ एक हजार अन्य राजाओं ने भी संयम स्वीकार किया था। दीक्षोपरान्त आगामी दिवस मुनि अभिनन्दननाथ ने साकेतपुर नरेश इन्द्रदत्त के यहाँ पारणा किया। 'अहोदानं' के निनाद के साथ देवों ने इस अवसर पर पाँच दिव्य भी प्रकट किये और दान की महिमा का गान किया।

केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण करते ही आपने मौनव्रत धारण कर लिया, जिसका निर्वाह करते हुए उन्होंने १८ वर्ष की दीर्घ अवधि तक कठोर तप किया—उग्रतप, अभिग्रह, ध्यान आदि में स्वयं को व्यस्त रखा। इस समस्त अवधि में वे छद्मअवस्था में भ्रमणशील बने रहे और ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। प्रभु अयोध्या में सहस्राम्रवन में बेले की तपस्या में थे कि उनका चित्त परम समाधिदशा में प्रविष्ट हो गया। वे शुभ शुक्लध्यान में लीन थे कि उसी समय उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय कर दिया। अभिजित नक्षत्र में पौष शुक्ला चतुर्दशी को प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

प्रथम धर्मदेशना

प्रभु के समवसरण की रचना हुई। देवों तिर्यंचों और मनुजों के अपार समुदाय में स्वामी अभिनन्दननाथ ने प्रथम धर्मदेशना दी। इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर आपने धर्म के गूढ़ स्वरूप का विवेचन किया और उसका मर्म स्पष्ट किया। जनता के आत्म-कल्याण का पथ प्रदर्शित किया। अपने धर्मतीर्थ की स्थापना की थी, अतः 'भावतीर्थ' के गौरव से आप अलंकृत हुए।

भगवान अभिनन्दन स्वामी की देशना अति महत्त्वपूर्ण एवं स्मरणीय समझी जाती

है, जो युग-युग तक आत्मकल्याणार्थियों का मार्ग प्रकाशित करती रहेगी। भगवान ने अपनी देशना में स्पष्ट किया था कि यह आत्मा सर्वथा एकाकी है, न कोई इसका मित्र है, न सहचर और न ही कोई इसका स्वामी है। ऐसी अशरण अवस्था में ही निज कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग करता रहता है। जितने भी जागतिक सम्बन्धी हैं—माता, पिता, पत्नी, पुत्र, सखा, भाई आदि कोई भी कर्मों के फल भोगने में साझीदार नहीं हो सकता। भला-बुरा सब कुछ अकेले उसी आत्मा को प्राप्त होता है। कष्ट और पीडाओं से कोई उसका त्राण नहीं कर सकता। कोई उसके जरा, रोग और मरण को टाल नहीं सकता। मात्र धर्म ही उसका रक्षक-संरक्षक होता है। धर्माचारी स्वयं इन कष्टों से मुक्त रहने की आश्वस्तता का अनुभव कर पाता है।

इस परम मंगलकारी देशना से प्रेरित, प्रभावित और सज्ञान होकर लाखों नर-नारियों ने मुनि-जीवन स्वीकार कर लिया था। अभिनन्दन प्रभु चौथे तीर्थंकर कहलाये।

परिनिर्वाण

भगवान ने ५० लाख पूर्व वर्षों का आयुष्य पूरा किया था। अपने प्रभावशाली और मार्मिक धर्मोपदेश द्वारा जनमानस को भोग से हटाकर त्याग के क्षेत्र में आकर्षित किया। अन्त में अपने जीवन का सांध्यकाल समीप ही अनुभव कर अनशन व्रत धारण कर लिया जो १ माह निरन्तरित रहा और वैशाख शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र के श्रेष्ठ योग में प्रभु ने अन्य एक हजार मुनियों के साथ सकलकर्म आवरण को नष्ट कर दिया। वे मुक्त हो गये, उन्हें निर्वाण का गौरव पद प्राप्त हो गया। यही प्रभु की साधना का परम लक्ष्य और जीवन की चरम उपलब्धि थी।

धर्म परिवार

गणधर	११६
केवली	१४,०००
मनःपर्यवज्ञानी	११,६५०
अवधिज्ञानी	६,८००
चौदह पूर्वधारी	१,५००
वैक्रिय लब्धिधारी	१६,०००
वादी	११,०००
साधु	३,००,०००
साध्वी	६,३०,०००
श्रावक	२,८८,०००
श्राविका	५,२७,०००

□□

5

भगवान सुमतिनाथ

(चिन्ह—क्रौंच पक्षी)

चौबीस तीर्थंकरों के क्रम में पंचम स्थान भगवान सुमतिनाथ का है। आपके द्वारा तीर्थंकरत्व की प्राप्ति और जीवन की उच्चाशयता का आधार भी पूर्व के जन्म-जन्मान्तरों के सुसंस्कारों का परिणाम ही था। इस श्रेष्ठत्व की झलक आगामी पंक्तियों में स्पष्टतः आभासित होती है।

पूर्वभव

शंखपुर नगर के राजा विजयसेन अपनी न्यायप्रियता एवं प्रजावत्सलता के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी प्रियतमा पत्नी महारानी सुदर्शना भी सर्वगुलक्षण-सम्पन्न थीं। रानी को अपार सुख-वैभव और ऐश्वर्य तो प्राप्त था किन्तु खटका इसी बात का था कि वह निःसन्तान थी। प्रतिपल वह इसी कारण दुःखी रहा करती। एक समय का प्रसंग है कि नगर में वसन्तोत्सव मनाया जा रहा था। आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी उद्यान में एकत्रित थे। सुन्दर वस्त्रालंकारों से सज्जित प्रजाजन पूर्ण उल्लास और उमंग के साथ नानाविधि क्रीड़ाएँ करते और आमोद-प्रमोद में मग्न थे। नरेश के लिए विशेषतः निर्धारित भवन पर से राजा और रानी भी इन क्रीड़ाओं और प्राकृतिक छटा का अवलोकन कर आनन्दित हो रहे थे। रानी सुदर्शना ने इसी समय एक ऐसा दृश्य देखा जिसने उसके मन में सोयी हुई पीड़ा को जागृत और उद्दीप्त कर दिया। रानी ने देखा, अनुपम रूपवती एक प्रौढ़ा आसन पर बैठी है और उसकी आठ पुत्र-वधुएँ नाना प्रकार से उसकी सेवा कर रही हैं। श्रेष्ठीराज नन्दीषेण की गृहलक्ष्मी के इस सौभाग्य को देखकर रानी कुंठित हो गयी। वह उद्यान से अनमनी-सी राजभवन लौट आयी। कोमलता के साथ राजा ने जब कारण पूछा, तो रानी ने सारी कष्ट-कथा कह दी। राजा पहले ही पुत्र-प्राप्ति के लिए जितने उपाय हो सकते थे, वे सब करके परास्त हो चुका था, तथापि निराश रानी को उसने वचन दिया कि वह इसके लिए कोई कोर कसर उठा नहीं रखेगा। वह वास्तव में पुनः सचेष्ट भी हो गया और राजा-रानी का भाग्य परिवर्तित हुआ। यथासमय रानी सुदर्शना ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। रानी ने स्वप्न में सिंह देखा था—इसे आधार मानकर पुत्र का नाम पुरुषसिंह रखा गया। पुरुषसिंह अतीव पराक्रमशील, शौर्य-सम्पन्न और तेजस्वी कुमार था। उसके इन गुणों का परिचय इस तथ्य से हो जाता है कि युवावस्था प्राप्त होने तक ही उसने अनेक युद्ध

कर समस्त शत्रुओं का दमन कर लिया था। पुरुषसिंह पराक्रमी तो था, किन्तु इस उपलब्धि हेतु उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे तो मोक्ष-प्राप्ति के पवित्र साधन के रूप में जीवन को प्रयुक्त करना था। इसका सुयोग भी उसे शीघ्र ही मिल गया। राजकुमार वन-भ्रमण के लिए गया हुआ था। घने वन में उसने एक मुनि आचार्य विनय नन्दन को तप मे लीन देखा। उसके जिज्ञासु मन ने उसे उत्साहित किया। परिणामतः राजकुमार पुरुषसिंह ने मुनि से उनका धर्म, तप का प्रयोजन आदि प्रकट करने का निवेदन किया। मुनि ने राजकुमार को जब धर्म का तत्व-बोध कराया तो राजकुमार के संस्कार जागृत हो गये। वह प्रबुद्ध हो गया। विरक्ति का भाव उसके चित्त में अंगड़ाइयाँ लेने लगा। उसके मन मे संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर लेने की अभिलाषा क्षण-क्षण में प्रबल से प्रबलतर होने लगी। दीक्षा के लिए उसने माता-पिता से जब अनुमति की याचना की तो पुत्र की इस अभिलाषा का ज्ञान होने से ही माता हत्चेत हो गयी। ममता का यह दृढ़भाव भी प्रबल निश्चयी राजकुमार को विचलित नहीं कर पाया। अन्ततः विवश होकर माता-पिता को दीक्षार्थ अपनी अनुमति देनी ही पड़ी।

दीक्षोपरान्त पुरुषसिंह ने घोर तप किया। क्षमा, समता, निःस्वार्थता आदि श्रेष्ठ आदर्शों को उसने अपने जीवन मे ढाला और २० स्थानों की आराधना की। फलस्वरूप उसने तीर्थंकर-नामकर्म उपार्जित कर लिया और मरणोपरान्त ऋद्धिशाली देव बना। वह वैजयन्त नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।

जन्म-वंश

जब वैजयन्त विमान की स्थिति समापन पर आ रही थी, उस काल मे अयोध्या के राजा महाराज मेघ थे, जिनकी धर्मपरायणा पत्नी का नाम मंगलावती था। वैजयन्त विमान से च्युत होकर पुरुषसिंह का जीव इसी महारानी के गर्भ में स्थित हुआ। महापुरुषों की माताओं की भाँति ही महारानी मंगलावती ने भी १४ शुभ महास्वप्नों का दर्शन किया और वैशाख शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि को पुत्रश्रेष्ठ को जन्म दिया। जन्म के समय मघा नक्षत्र का शुभ योग था। माता-पिता और राजवंश ही नहीं सारी प्रजा राजकुमार के जन्म से प्रमुदित हो गयी। हर्षातिरेकवश महाराज मेघ ने समस्त प्रजाजन के लिए १० दिवसीय अवधि तक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की।

नामकरण

प्रभु सुमतिनाथ के नामकरण का भी एक रहस्य है। पुत्र के गर्भ मे आने के पश्चात् महारानी मंगलावती का बुद्धि-वैभव निरन्तर विकसित होता चला गया और उसने महाराजा के काम-काज मे हाथ बँटाना आरम्भ कर दिया। ऐसी-ऐसी क्लिष्ट समस्याओं को रानी ने सुलझा दिया जो विगत दीर्घकाल से जटिल से जटिलतर होती जा रही थीं। विभिन्न-विचित्र समस्याओं को रानी सुगमता से हल कर देती। ऐसा ही एक प्रसंग प्रसिद्ध है कि किसी सेठ की दो पत्नियाँ थीं उनमें से एक को पुत्र-प्राप्ति

6

भगवान श्री पद्मप्रभ

(चिन्ह—पद्म)

भगवान पद्मप्रभ स्वामी छठे तीर्थंकर माने जाते हैं। तीर्थंकरत्व की योग्यता अन्य तीर्थंकरों की भाँति ही प्रभु पद्मप्रभ ने भी अपने पूर्व-भव में ही उपार्जित कर ली थी। वे पद्म अर्थात् कमलवत् गुणों से सम्पन्न थे।

पूर्वजन्म

प्राचीनकाल में सुसीमा नगरी नामक एक राज्य था। वहाँ के शासक थे महाराज अपराजित। धर्माचरण की दृढ़ता के लिए राजा की ख्याति दूर-दूर तक व्याप्त थी। परम न्यायशीलता के साथ अपनी सन्तति की भाँति वे प्रजापालन किया करते थे। उच्च मानवीय गुणों को ही वे वास्तविक सम्पत्ति मानते थे और वे इस रूप में परम धनाढ्य थे। वे देहधारी साक्षात् धर्म से प्रतीत होते थे। सांसारिक वैभव व भौतिक सुख-सुविधाओं को वे अस्थिर मानते थे। इसका निश्चय भी उन्हें हो गया था कि मेरे साथ भी इनका संग सदा-सदा का नहीं है। इस तथ्य को हृदयंगम कर उन्होंने भावी कष्टों की कल्पना को ही निर्मूल कर देने की योजना पर विचार प्रारम्भ किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर लिया कि मैं ही आत्मबल की वृद्धि कर लूं। पूर्व इसके कि ये बाह्य सुखोपकरण मुझे अकेला छोड़कर चले जाएँ, मैं ही स्वेच्छा से इन सबका त्याग कर दूँ। यह संकल्प उत्तरोत्तर प्रबल होता ही जा रहा था कि उन्हें विरक्ति की अति सशक्त प्रेरणा अन्य दिशा से और मिल गई। उन्हें मुनि पिहिताश्रव के दर्शन करने और उनके उपदेशामृत का पान करने का सुयोग मिला। राजा को मुनि का चरणाश्रय प्राप्त हो गया। महाराज अपराजित ने मुनि के आशीर्वाद के साथ संयम स्वीकार कर अपना साधक-जीवन प्रारम्भ किया। उन्होंने अर्हंत् भक्ति आदि अनेक आराधनाएँ कीं और तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित कर आयु समाप्ति पर ३१ सागर की परमस्थिति युक्त ग्रैवेयक देव बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

जन्म-वंश

यही पुण्यशाली अपराजित मुनि का जीव देवयोनि की अवधि पूर्ण हो जाने पर कौशाम्बी के राजकुमार के रूप में जन्मा। उन दिनों कौशाम्बी का राज्यासन महाराज धर से सुशोभित था और उनकी रानी का नाम सुसीमा था। माघ कृष्णा षष्ठी का दिन और चित्रा नक्षत्र की घड़ी थी, जब अपराजित का जीव माता सुसीमा रानी के

गर्भ में स्थित हुआ था। उसी रात्रि को रानी ने चौदह महाशुभकारी स्वप्नों का दर्शन किया। रानी ने इसकी चर्चा राजा से की। स्वप्नों के सुपरिणामों के विश्वास के कारण दोनों को अत्यन्त हर्ष हुआ। रानी को यह कल्पना अत्यन्त सुखद लगी कि वह महान भाग्यशालिनी माता होगी। स्वयं महाराज धर ने रानी को श्रद्धापूर्वक नमन किया और कहा कि इस महिमा के कारण देव-देवेन्द्र भी तुम्हें नमन करेंगे।

माता ने आदर्श आचरणों के साथ गर्भ अवधि व्यतीत की। वह दान-पुण्य करती रही, क्षमा का व्यवहार किया और चित्त को यत्नपूर्वक सानन्द रखा। उचित समय आने पर रानी सुसीमा ने पुत्र रत्न को जन्म दिया जो परम तेजोमय और पद्म (कमल) की प्रभा जैसी शारीरिक कान्ति वाला था। कहा जाता है कि शिशु के शरीर से स्वेद-गंध के स्थान पर भी कमल की सुरभि प्रसारित होती थी। इस अनुपम रूपवान, मृदुल और सुवासित गात्र शिशु को स्पर्श करने, उसकी सेवा करने का लोभ देवांगनाएँ भी संवरण न कर पाती थीं और वे दासियों के रूप में राजभवन में आती थीं। ऐसी स्थिति में युवराज का नाम 'पद्मप्रभ' रखा जाना स्वाभाविक ही था। नामकरण के आधारस्वरूप एक और भी प्रसङ्ग की चर्चा आती है कि जब वे गर्भ में थे, तब माता को पद्मशैया पर शयन करने की तीव्र अभिलाषा हुई थी।

गृहस्थ जीवन

कुमार पद्मप्रभ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए बाल्यावस्था का आँगन पार कर यौवन के द्वार पर आये। अब तक वे पर्याप्त बलवान और शौर्य-सम्पन्न हो गये थे। वे पराक्रमशीलता में किसी भी प्रकार कम नहीं थे, किन्तु मन से वे पूर्णतः अहिंसा-वादी थे। निरीह प्राणियों के लिए उनकी शक्ति कभी भी आतंक का कारण नहीं बनी। उनके मृदुलगात्र में मृदुल मन ही निवास था। सांसारिक माया-मोह, सुख-वैभव सभी से वे पूर्ण तटस्थ, आत्मोन्मुखी थे। आन्तरिक विरक्ति के साथ-साथ कर्त्तव्यपरायणता का दृढ़भाव भी उनमें था। यही कारण है कि माता-पिता के आदेश से उन्होंने विवाह-बन्धन भी स्वीकार किया और उत्तराधिकार में प्राप्त राज्यसत्ता का भोग भी किया। प्राग्ऐतिहासकारों का मत है कि २१ लाख पूर्व वर्षों तक नीति-कौशल, उदारता और न्यायशीलता के साथ उन्होंने शासन-सूत्र सँभाला। सांसारिक दृष्टि में इन विषयों की चाहे कितनी ही महिमा क्यों न हो, किन्तु प्रभु इसे तुच्छ समझते थे और महान् मानव जीवन के लिए ऐसी उपलब्धियों को हेय मानते थे। इन्हें उन्होंने जीवन का लक्ष्य कभी नहीं माना। जीवन रूपी यात्रा में आये विश्राम-स्थल के समान वे इस सत्ता के स्वामित्व को मानते थे। यात्री को तो अभी और आगे बढ़ना है। और वह समय भी शीघ्र आ पहुँचा जब उन्होंने यात्रा के शेषांग को पूर्ण करने की तैयारी कर ली। महाराज ने संयम और साधना का मार्ग अपना लिया। समस्त सांसारिक सुख, अधिकार-सम्पन्नता, वैभव, स्वजन-परिजन आदि की ममता से वे ऊपर उठ गये।

दीक्षा व केवलज्ञान

इस प्रकार सदाचारपूर्वक और पुण्यकर्म करते हुए एवं गृहस्थधर्म और राज-धर्म की पालना करते हुए अशुभकर्मों का क्षय हो जाने पर प्रभु मोक्ष लक्ष्य की ओर उन्मुख व गतिशील हुए। वर्षीदान सम्पन्न कर षष्ठभक्त (दो दिन के निर्जल तप) के साथ उन्होंने दीक्षा प्राप्त कर ली। वह कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। आपके साथ अन्य १००० पुरुषों ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। ब्रह्म-स्थल में वहाँ के भूपति सोमदेव के यहाँ प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

अब प्रभु सतत् साधना में व्यस्त रहने लगे। अशुभ कर्मों का अधिकांश प्रभाव पहले ही क्षीण हो चुका था। माया-मोह को वे परास्त कर चुके थे। अवशिष्ट कर्मों का क्षय करने के लिए अपेक्षाकृत अत्यल्प साधना की आवश्यकता रही थी। षष्ठ-भक्त तप के साथ, शुक्लध्यानस्थ होकर प्रभु ने घातिकर्मों को समूल नष्ट कर दिया और इस प्रकार चित्रा नक्षत्र की घड़ी में चैत्र सुदी पूर्णिमा को केवलज्ञान भी आपने प्राप्त कर लिया।

प्रथम देशना

केवली होकर प्रभु पद्मप्रभ स्वामी ने धर्मदेशना दी। इस आदि देशना में प्रभु ने आवागमन के चक्र और चौरासी लाख योनियों का विवेचन किया, जिनमें निज कर्मानुसार आत्मा को भटकते रहना पड़ता है। नरक की घोर पीड़ादायक यातनाओं का वर्णन करते हुए प्रभु ने बताया कि आत्मा को बार-बार इन्हें झेलना पड़ता है। मानव-जीवन के अतिरिक्त अन्य योनियों में तो आत्मा के लिए कष्ट का कोई पार ही नहीं है, और इस मनुष्य जीवन में भी सुख कितना अल्प और अवास्तविक है। ये मात्र काल्पनिक सुख भी असमाप्य नहीं होते और इसके पश्चात् आने वाले दुःख बड़े दारुण और उत्पीड़क होते हैं। सामान्यतः इन्हीं असार सुखों को मनुष्य जीवन का सर्वस्व मानकर उन्हीं की साधना में समग्र जीवन ही व्यर्थ कर देता है। वह सदा अन्यान्यों के वश में रहता है। विभिन्न आशाओं के साथ सभी ओर ताकता रहता है, किन्तु अपने अन्तर में वह नहीं झांक पाता। आत्मलीन हो जाने पर ही मनुष्य को अपार शान्ति और अनन्त सुखराशि उपलब्ध हो सकती है।

अपार ज्ञानपूर्ण एवं मंगलकारी धर्म देशना देकर पद्मप्रभ स्वामी ने चतुर्विध धर्मसंघ स्थापित किया। अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन अनंत चतुष्टय के स्वामी होकर प्रभु लोकज्ञ, लोकदर्शी और भावतीर्थ हो गये।

परिनिर्वाण

जीव और जगत् के कल्याण के लिए वर्षों तक प्रभु ने जन-मानस को अनुकूल बनाया, इसके लिए सन्मार्ग की शिक्षा दी और ३० लाख पूर्व वर्ष की आयु में प्रभु सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। आपको दुर्लभ निर्वाण पद की प्राप्ति हो गई।

धर्म-परिवार

गणधर	१०७
केवली	१२,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१०,३००
अवधिज्ञानी	१०,०००
चौदह पूर्वधारी	२,३००
वैक्रियलब्धिधारी	१६,८००
वादी	६,६००
साधु	३,३०,०००
साध्वी	४,२०,०००
श्रावक	२,७६,०००
श्राविका	५,०५,०००

□□

बारह गुण : केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहंतों में १२ गुण प्रगट होते हैं :—

१. अनन्तज्ञान	७. दिव्यध्वनि,
२. अनन्तदर्शन,	८. चामर,
३. अनन्तचारित्र,	९. स्फटिक सिंहासन,
४. अनन्तबल,	१०. तीन छत्र,
५. अशोकवृक्ष,	११. आकाश में देव दुंदुभि,
६. देवकृत पुष्पवृष्टि,	१२. भामण्डल ।

इनमें प्रथम चार आत्मशक्ति के रूप में प्रगट होते हैं, तथा पाँच से बारह तक भक्तिवश देवताओं द्वारा किये जाते हैं। प्रथम चार को अनन्त चतुष्टय, तथा शेष आठ को अष्टमहाप्रातिहार्य भी कहते है।

7

भगवान सुपार्श्वनाथ

(चिन्ह—स्वस्तिक)

भगवान पद्मप्रभजी के पश्चात् दीर्घकाल तीर्थंकर से शून्य रहा और तदनन्तर सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ का अवतरण हुआ। प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ स्थापित कर भाव अरिहन्त पद प्राप्त किया और जनकल्याण का व्यापक अभियान चलाया था।

पूर्वजन्म

क्षेमपुरी के अत्यन्त योग्य शासक थे—महाराज नन्दिसेन। महाराज प्रजाहित के साथ ही साथ आत्महित में भी सदा सचेष्ट रहा करते थे। इस दिशा में उनकी एक सुनिश्चित योजना थी, जिसके अनुसार न्यायपूर्वक शासन-संचालन करने के पश्चात् एक दिन उन्होंने आचार्य अरिदमन के आश्रय में संयम ग्रहण कर लिया। अपने साधक जीवन में उन्होंने अत्यन्त कठोर तप और अचल साधना की। त्याग की प्रवृत्ति में तो वे अद्वितीय ही थे। नन्दिसेन ने २० स्थानों की आराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया। अन्ततः कालधर्म की प्राप्ति के साथ आपको अहमिन्द्र के रूप में छठे ग्रैवेयक में स्थान उपलब्ध हुआ।

जन्म-वंश

ग्रैवेयक से च्यवनानन्तर वाराणसी में रानी पृथ्वी के गर्भ में नन्दिसेन के जीव ने पुनः मनुष्य-जन्म ग्रहण किया। इनके पिता का नाम प्रतिष्ठसेन था। गर्भ धारण की शुभ घड़ी भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में आयी थी। उसी रात्रि को महारानी ने १४ दिव्य शुभस्वप्नों का दर्शन किया, जो महापुरुष के आगमन के द्योतक समझे जाते हैं। पृथ्वीरानी ने एक श्वेत हाथी देखा जो उसके मुख की ओर अग्रसर हो रहा था, अपनी ओर आते हुए श्वेत-स्वस्थ बैल का दर्शन किया। इसके अतिरिक्त रानी ने निडर और पराक्रमी सिंह, कमल-आसन पर आसीन लक्ष्मीजी, सुरभित पुष्प-हार, शुभ्र चन्द्रमा, प्रचण्ड सूर्यदेव, उच्च पताका, रजत स्वर्ण कलश, स्वच्छ-श्वेत कमल पुष्पों से भरा सरोवर, क्षीरसागर, रत्न-जटित देव-विमान, मूल्यवान रत्न-समूह, प्रखर आलोकपूर्ण दीपशिखा ये शुभ स्वप्नों के दर्शन से रानी भावुक हो गयी और निद्रा-मुक्त होकर इन पर विचार करने में लीन हो गयी। महाराज प्रतिष्ठसेन से जब यह

चर्चा सुनी, तो अपना अनुभव व्यक्त करते हुए उन्होंने रानी से कहा कि इन स्वप्नों को देखने वाली स्त्री किसी चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर की जननी होती है। तुम परम भाग्य-शालिनी हो। महाराज और रानी की प्रसन्नता का पारावार न रहा।

उचित समय पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया। सर्वत्र उमंग और हर्ष व्याप्त हो गया। वह महान् दिन ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी का था। गर्भ-काल में माता के पार्श्व-शोभन रहने के कारण बालक का नाम सुपार्श्वनाथ रखा गया। कुमार सुपार्श्वनाथ पूर्व संस्कारों के रूप में पुण्य-राशि के साथ जन्मे थे। वे अत्यन्त तेजस्वी, विवेकशील और सुहृदय थे।

गृहस्थ-जीवन

बाह्य आचरण में सांसारिक मर्यादाओं का भलीभांति पालन करते हुए भी अपने अन्तःकरण में वे अनासक्ति और विरक्ति को ही पोषित करते चले। योग्यवय-प्राप्ति पर श्रेष्ठ सुन्दरियों के साथ पिता महाराजा प्रतिष्ठ ने कुमार सुपार्श्वनाथ का विवाह कराया। आसक्ति और काम के उत्तेजक परिवेश मे रहकर भी कुमार सर्वथा अप्रभावित रहे। वे इन सब को अहितकर मानते थे और सामान्य से भिन्न वे सर्वथा तटस्थता का व्यवहार रखते थे, न वैभव में उनकी रुचि थी, न रूप के प्रति आकर्षण का भाव। महाराजा प्रतिष्ठ ने कुमार सुपार्श्वनाथ को सिंहासनारूढ़ भी कर दिया था, किन्तु अधिकार-सम्पन्नता एवं प्रभुत्व उनमे रंचमात्र भी मद उत्पन्न नहीं कर सका। इस अवस्था को भी वे मात्र दायित्व पूर्ति का बिन्दु मान कर चले, भोग-विलास का आधार नहीं।

दीक्षा-ग्रहण

सुपार्श्वनाथ के मन में पल्लवित होने वाला यह विरक्ति-भाव परिपक्व होकर व्यक्त भी हुआ और उन्होंने कठोर संयम स्वीकार कर लिया। तब तक उनका यह अनुभव पक्का हो गया था कि अब भोगावली का प्रभाव क्षीण हो गया है। लोकान्तिक देवों के आग्रह पर वर्षीदान सम्पन्न कर सुपार्श्वनाथ ने अन्य एक हजार राजाओं के साथ ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण की थी। षष्ठ-भक्त की तपस्या से उन्होंने मुनि जीवन प्रारम्भ किया। पाटलि खण्ड में वहाँ के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहाँ मुनि सुपार्श्वनाथ ने प्रथम पारणा किया।

केवलज्ञान

दीक्षा-प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् ही प्रभु सुपार्श्वनाथ ने मौनव्रत धारण कर लिया था। अत्यन्त कठोर तप-साधना पूर्ण करते हुए वे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। एकाकीपन उनके विहार की विशेषता थी। उनकी साधना इतनी प्रखर थी कि मात्र नौ माह की अवधि में ही वे आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए सिद्धि की सीमा

पर पहुंच गये थे। तभी एक दिन जब वे शिरीष वृक्ष की छाया में कायोत्सर्ग किये अचल रूप से खड़े शुक्लध्यान में लीन थे कि ज्ञानावरण आदि चार घातीकर्म विदीर्ण हो गये। प्रभु को केवलज्ञान का लाभ हो गया। यह प्रसंग फाल्गुन शुक्ला षष्ठी का है और उस समय विशाखा नक्षत्र का अति शुभ योग था।

प्रथम धर्मदेशना

प्रभु के केवली हो जाने पर देवताओं ने समवसरण की रचना की और तत्त्व ज्ञान के आलोक से परिपूर्ण धर्मदेशना प्रदान कर प्रभु ने व्यापक जनहित किया। प्रभु ने अपनी देशना में आत्मा और शरीर की पृथकता का विवेचन किया। इस भेद-विज्ञान का विश्लेषण करते हुए प्रभु ने उपदेश दिया कि संसार के सकल दृश्यमान पदार्थ नश्वर हैं, अचिर हैं। इनके साथ ममता स्थापित करना विवेक-विरुद्ध है। यही ममता तब दुःख की मूल हो जाती है, जब सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा (जो अनश्वर है) की शान्ति के लिए आवश्यक है कि इन भौतिक और नश्वर पदार्थों के प्रति अनासक्ति रहे। वैभव, स्वजन-परिजन, यहाँ तक कि अपने शरीर के प्रति भी राग-ग्रस्त न रहे। फिर कष्ट का कोई कारण न रहेगा।

अपना शरीर भी भौतिक है, अस्तित्वधारी है। इस कारण इसकी नश्वरता भी सुनिश्चित है। हमारा सारा ध्यान अमर आत्मा के उत्कर्ष में निहित रहना चाहिए। शरीर 'पर' है और 'स्व' का स्वरूप आत्मा का है। अपनत्व का बन्धन तभी शिथिल होकर प्रभावहीन होगा, जब मनुष्य शरीर और आत्मा के इस अन्तर को विस्मृत करले और तदनुरूप अपने सारे व्यवहार को ढाले। ऐसा व्यक्ति भव-बंधन से मुक्ति प्राप्त कर शान्ति और सुख का लाभ करता है।

इस अतिशय प्रभावपूर्ण देशना से अगणित नर-नारी प्रबुद्ध हो गये, सज्ञान हो गये और निर्दिष्ट मार्ग के अनुसरण हेतु प्रेरित हुए। इन जागृत-चित्त असंख्य नर-नारियों का विशाल समुदाय प्रभु के चरणाश्रय में आया। उन्होंने श्रद्धापूर्वक संयम स्वीकार किया। चार तीर्थों की स्थापना कर प्रभु सुपार्श्वनाथ ने ७वें तीर्थंकर की गरिमा प्राप्त की और जन-जन के कल्याणार्थ विहार करते रहे।

परिनिर्वाण

इस प्रकार जगत् का व्यापक मंगल करते हुए सुपार्श्वनाथ स्वामी ने २० लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया। अन्तिम समय में प्रभु ने एक मास का अनशन व्रत धारण किया और समस्त कर्म-समूह को क्षीण कर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। उन्हें दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त हो गया।

धर्म-परिवार

गणधर	९५
केवली	११,०००

मनःपर्यवज्ञानी	६,१५०
अवधिज्ञानी	६,०००
चौदह पूर्वधारी	२,०३०
वैक्रियलब्धिधारी	१५,३००
वादी	८,४००
साधु	३,००,०००
साध्वी	४,३०,०००
श्रावक	२,५०,०००
श्राविका	४,९३,०००

□□

सिद्धों के आठ गुण—

१ केवलज्ञान
२ केवलदर्शन
३ अव्याबाधसुख
४ क्षायिक सम्यक्त्व
५ अक्षय स्थिति
६ अरूपीपन
७ अगुरुलघुत्व
८ अनन्त शक्ति

8

भगवान चन्द्रप्रभ

(चिन्ह—चन्द्र)

तीर्थंकर-परम्परा में आठवाँ स्थान भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी का है। लगभग १ लाख पूर्व वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक केवल पर्याय रूप में प्रभु ने लक्ष-लक्ष जीवों को सन्मार्ग पर लगाकर उनके कल्याण की महती भूमिका पूरी की थी।

पूर्व जन्म

भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी ने अपने तीर्थंकरत्व युक्त जीवन में जो महान् और शुभ कर्म किये, जिन सफलताओं और महान् उपलब्धियों के वे स्वामी बने—उसके पीछे उनके पूर्व-जन्म के सुपुष्ट श्रेष्ठ संस्कारों का ही प्रभाव था। यहाँ उनके अन्तिम पूर्व-जीवन का चित्रण इस तथ्य की सत्यता को प्रतिपादित करने हेतु चित्रित किया जा रहा है।

प्राचीनकाल में धातकीखण्ड में रत्नसंचया नगरी नामक एक राज्य था। चन्द्रप्रभ स्वामी पूर्व-जन्म में इसी राज्य के राजा महाराज पद्म थे। राजा पद्म उच्चकोटि के योग साधक थे। इस सतत् साधना के प्रभावस्वरूप पद्म राजा के चित्त में विरक्ति उत्पन्न होने लगी और वे संसार त्यागकर साधक-जीवन व्यतीत करने और आत्म-कल्याण करने की उत्कट अभिलाषा से वे अभिभूत रहने लगे। ऐसी ही मानसिक दशा के सुसमय में संयोग से उन्हें युगन्धर मुनि के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ। मुनिश्री के सदुपदेशों से उनका जागृत मन और भी उद्दीप्त हो उठा और मुनि युगंधर के आश्रय में ही राजा ने संयम ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात उन्होंने कठोर तप किये और बीस स्थानों की आराधना की। परिणामस्वरूप उन्हें तीर्थंकर नामकर्म का लाभ हुआ। चारित्र-धर्म के दृढ़तापूर्वक पालन और अन्य विशिष्ट उपलब्धियों के साथ जीवन व्यतीत करते हुए जब उन्हें अपना अन्त समय समीप अनुभव हुआ तो उन्होंने और भी आराधनाएँ कीं और कालधर्म प्राप्त किया। देहावसान पर वे विजय विमान में अहमिन्द्र देव बने।

जन्म-वंश

पद्म राजा का जीव अहमिन्द्र की स्थिति समाप्त कर जब विजय विमान से च्युत हुआ, तो उसने महारानी लक्ष्मणा के गर्भ में स्थान पाया। यह प्रसंग चैत्र कृष्णा पंचमी का है और तब अनुराधा नक्षत्र का सुयोग था। रानी लक्ष्मणा चन्द्र-

पुरी राजा के शासक महाराजा महासेन की धर्मपत्नी थी। रानी ने गर्भ स्थिर होने वाली रात्रि को १४ शुभ स्वप्नों का दर्शन किया, जो महापुरुष के आगमन के सूचक थे। रानी स्वप्न के भावी फल से अवगत होकर अपार हर्ष अनुभव करने लगी। उसने प्रफुल्लचित्तता के साथ गर्भावधि पूर्ण की और पौष कृष्णा द्वादशी की अनुराधा नक्षत्र में दिव्य आभायुक्त पुत्ररत्न को जन्म दिया। राज-परिवार और प्रजाजन ही नहीं देवों ने भी अति प्रसन्नतापूर्वक यह जन्मोत्सव मनाया। बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा गया। इसके पीछे दो कारण थे। एक तो यह कि गर्भावधि मे माता रानी लक्ष्मणा ने चन्द्रपान की अपनी अभिलाषा को पूरा किया था और दूसरा कारण यह कि इस नवजात शिशु की प्रभा (कान्ति) चन्द्रमा के समान शुभ्र और दीप्तिमान थी।

गृहस्थ-जीवन

पूर्व संस्कारों के प्रभावस्वरूप कुमार चन्द्रप्रभ के स्वभाव में गम्भीरता, चिन्तनशीलता और सांसारिक आकर्षणों के प्रति अनासक्ति के तत्त्व बाल्यावस्था से ही विद्यमान थे। आयु के साथ-साथ इनमें और भी अभिवृद्धि होती गयी। सांसारिक जीवन से विरक्त स्वभाव होते हुए भी माता-पिता के आग्रह को स्वीकारते हुए युवराज ने गृहस्थ-जीवन मे भी प्रवेश किया। उपयुक्त आयु के आगमन पर राजा महासेन ने उनका विवाह योग्य सुन्दरियों के साथ कराया। यह निर्वेद पर वात्सल्य और ममता की अस्थायी विजय ही थी। राज्य सत्ता का भोग भी उन्होंने किया और दाम्पत्य जीवन भी कुछ समय तक व्यतीत तो किया, किन्तु इस व्यवहार पर अतिवाद का स्पर्श कभी नहीं हो पाया। पवित्र कर्त्तव्य के रूप में ही वे इस सब को स्वीकारते रहे।

चन्द्रप्रभ परम बलवान, शूर और पराक्रमी थे, किन्तु व्यवहार मे वे अहिंसक थे। उनकी शक्ति किसी अशक्त प्राणी के लिए पीड़ा का कारण कभी नहीं बनी। शत्रुओं पर भी वे नियन्त्रण करते थे— प्रेमास्त्र से, आतंक से नहीं। वे अनुपम आत्म-नियन्त्रक शक्ति के स्वामी थे। वैभव-विलास के अतल सरोवर में रहते हुए भी वे विकारों से निर्लिप्त रहे; कंचन और कामिनी के कुप्रभावों से सर्वथा मुक्त रहे।

उनके जीवन में वह पल भी शीघ्र ही आ गया जब भोग-कर्मों का क्षय हुआ। राजा चन्द्रप्रभ ने वैराग्य धारण कर दीक्षाग्रहण कर लेने का संकल्प व्यक्त कर दिया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के पश्चात् उत्तराधिकारी को शासन सूत्र सँभालकर स्वयं अनगार भिक्षु हो गये।

दीक्षाग्रहण-केवलज्ञान

अनुराधा नक्षत्र के श्रेष्ठ योग मे प्रभु चन्द्रप्रभ स्वामी ने पौष कृष्णा त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण की। आगामी दिवस को पद्मखण्ड नरेश महाराजा सोमदत्त के यहाँ पारणा हुआ।

तीन माह तक छद्मावस्था में रहकर प्रभु ने कठोर तप और साधना की। घने वन्य प्रदेशों में हिंस्र जीव-जन्तुओं के भयंकर उपसर्ग उन्होंने धैर्यपूर्वक सहे। अनेक

परीषहों में वे अतुलनीय सहिष्णुता का परिचय देते रहे। दुष्ट प्रवृत्तियों के अल्पज्ञ लोगों ने भी नाना प्रकार के कष्ट देकर व्यवधान उपस्थित किये। रमणियों ने प्रभु की रूपश्री से मोहित होकर उन पर स्वयं को न्योछावर कर दिया और प्रीतिदान की अपेक्षा में अनेक विधि उत्तेजक चेष्टाएँ कीं, किन्तु इन सभी विपरीत परिस्थितियों में भी वे अटलतापूर्वक साधनालीन रहे। उनका मन तनिक भी चंचल नहीं हुआ। समता का अद्‌भुत तत्त्व प्रभु में विद्यमान था।

इन व्यवधानों की कसौटियों पर खरे सिद्ध होते हुए प्रभु चन्द्रप्रभ स्वामी ३ माह की अवधि पूर्ण होते-होते सहस्राम्रवन में पधारे। प्रियंगु वृक्ष तले वे शुक्लध्यान में लीन हुए और ज्ञानावरण आदि ४ घातिक कर्मों का उन्होंने क्षय कर दिया। भगवान को केवलज्ञान का लाभ हो गया।

प्रथम धर्मदेशना

देव, दानवों, पशुओं और मनुष्यों की विशाल सभा में भगवान ने देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना की। देवताओं द्वारा रचित समवसरण में आपने शरीर की अपवित्रता और मलिनता को प्रतिपादित किया। मानव शरीर बाहर से स्वच्छ, सुन्दर और आकर्षक लगता है; किन्तु यह भ्रम है, छलावा है। शरीर की संरचना जुगुप्सित अस्थि-चर्म, मृदादि से हुई है। यदि इस भीतरी स्वरूप का दर्शन कर ले, तो मनुष्य की धारणा ही बदल जाय। इस बीभत्सता के कारण न तो मनुष्य निज शरीर हेतु उचित-अनुचित उपाय करने में लीन रहे और न ही रमणियों के प्रति आकर्षित हो। यह शरीर मल-मूत्रादि का कोष होकर सुन्दर और पवित्र कैसे हो सकता है। सरस स्वादु भोज्य-पदार्थ भी इस तन के संसर्ग में रहकर घृण्य हो जाते हैं। यह तन की अशौचता का स्पष्ट प्रमाण है। प्रभु ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि ऐसे अशुचि शरीर की शक्तियों का प्रयोग जो कोई धर्म की साधना में करता है—वही ज्ञानी है, विवेकशील है। वही पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

प्रभु की वाणी का अमोघ प्रभाव हुआ। चमत्कार की भाँति देशना से प्रेरित हो सहस्रों नर-नारियों ने संयमव्रत धारण कर लिया। दीक्षित होने वालों के अतिरिक्त हजारों जन श्रावकधर्म में सम्मिलित हो गये। इसके पश्चात् भी दीर्घावधि तक अपनी शिक्षाओं से अगणित जनों के कल्याण का पवित्र दायित्व वे निभाते रहे।

परिनिर्वाण

अपने जीवन के अन्तिम समय में भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी ने सम्मेत शिखर पर अनशन व्रत धारण कर लिया था। इस अन्तिम प्रयत्न से प्रभु ने शेष अघातिक कर्मों को क्षीण कर दिया और निर्वाण पद प्राप्त कर स्वयं मुक्त और बुद्ध हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	६३
केवली	१०,०००

मनःपर्यवज्ञानी	८,०००
अवधिज्ञानी	८,०००
चौदह पूर्वधारी	२,०००
वैक्रियलब्धिधारी	१४,०००
वादी	७,६००
साधु	२,५०,०००
साध्वी	३,८०,०००
श्रावक	२,५०,०००
श्राविका	४,६१,०००

बीस स्थान—तीर्थंकर रूप में जन्म लेने से पहले तीर्थंकरों की आत्मा पूर्व जन्मों में अनेक प्रकार के तप आदि का अनुष्ठान कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करती है। वह बीस स्थानों में से किसी भी स्थान की उत्कृष्ट आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म बाँधती है। वे बीस स्थान इस प्रकार हैं—

१ अरिहंत की भक्ति
२ सिद्ध की भक्ति
३ प्रवचन की भक्ति
४ गुरु की भक्ति
५ स्थविर की भक्ति
६ बहुश्रुत (ज्ञानी) की भक्ति
७ तपस्वी की भक्ति
८ ज्ञान में निरन्तर उपयोग युक्त रहना
९ सम्यक्त्व का निर्दोष आराधना करना
१० गुणवानों का विनय करना
११ विधिपूर्वक षडावश्यक करना
१२ शील एवं व्रत का निर्दोष पालन
१३ उत्कट वैराग्य भावना
१४ तप व त्याग की उत्कृष्टता
१५ चतुर्विध संघ को समाधि उत्पन्न करना
१६ मुनियों की वैयावृत्ति
१७ अपूर्व ज्ञान का अभ्यास
१८ वीतराग वचनों पर दृढ़ श्रद्धा
१९ सुपात्र दान
२० जिन प्रवचन की प्रभावना

—ज्ञातासूत्र ८

9

भगवान सुविधिनाथ

(चिन्ह—मकर)

भगवान सुविधिनाथ स्वामी नौवें तीर्थंकर हैं । प्रभु का दूसरा नाम (विशेषतः गृहस्थ जीवन में) पुष्पदन्त भी था, किन्तु आध्यात्म-क्षेत्र में वे 'सुविधिनाथ' नाम से ही प्रसिद्ध हैं ।

पूर्व जन्म

पूर्व जन्म में वे पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के नरेश महाराजा महापद्म थे । महाराजा न्याय-बुद्धिपूर्ण शासनकर्त्ता के रूप में भी विख्यात थे और धर्माचरण के लिए भी । स्वेच्छापूर्वक नरेश ने सत्ता त्याग कर मुनि जगन्नन्द के आश्रय में दीक्षा ग्रहण कर ली थी और शेष जीवन उन्होंने साधना में व्यतीत किया । तप-साधना की उच्चता के आधार पर उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म अर्जित किया था और देह-त्याग कर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र देव बने ।

जन्म-वंश

किसी समय काकन्दी नगर नामक राज्य में महाराज सुग्रीव का शासन था । इनकी धर्मपरायणा रानी का नाम रामादेवी था । ये ही भगवान सुविधिनाथ स्वामी के माता-पिता थे । फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में वैजयन्त विमान से च्यवित होकर महापद्म का जीव माता रामादेवी के गर्भ में आया था । तीर्थंकरों की माता की भाँति ही रानी रामादेवी ने भी १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया था । स्वप्नशास्त्र की मान्यतानुसार शुभ परिणामों की पूर्व निर्धारणा से राजा-रानी अतीव प्रसन्न हुए । गर्भकाल में माता सर्वविधि सकुशल रही । अवधि समाप्ति पर रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । यह मृगशिर कृष्णा पंचमी के मूल नक्षत्र की अति शुभ घड़ी थी । राजपरिवार, प्रजाजन एवं प्रफुल्लित देवताओं ने उत्साह एवं प्रसन्नता के साथ प्रभु का जन्मोत्सव मनाया । सर्वत्र ही दिव्य आलोक प्रसरित हो गया था । पिता महाराज सुग्रीव ने सोचा कि बालक जब तक गर्भ में रहा, रानी रामादेवी सर्वविधि कुशल रही है, अतः बालक का नाम सुविधिनाथ रखा जाना चाहिए । साथ ही गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ था अतः बालक का नाम पुष्पदन्त भी रखा गया । पर्याप्त काल तक ये दोनों नाम प्रभु के लिए प्रचलित रहे ।

गृहस्थ-जीवन

पूर्व संस्कारों एवं उग्र तपस्याओं के प्रभावस्वरूप इस जन्म में कुमार सुविधिनाथ के व्यक्तित्व में अमित तेज, शक्ति, पराक्रम एवं बुद्धि तत्त्वों का अद्भुत समन्वय था। गृहस्थ-जीवन को प्रभु ने एक लौकिक दायित्व के रूप में ग्रहण किया और तटस्थभाव से उन्होंने उसका निर्वाह भी किया। तीव्र अनासक्ति होते हुए भी अभिभावकों के आदेश का आदर करते हुए उन्होंने विवाह किया। सत्ता का भार भी सँभाला, किन्तु स्वभावतः वे चिन्तन की प्रवृत्ति में ही प्रायः लीन रहा करते थे।

उत्तराधिकारी के परिपक्व हो जाने पर महाराज सुविधिनाथ ने शासन कार्य उसे सौंप दिया और आप अपने पूर्व निश्चित् पन्थ पर अग्रसर हुए, अपना साधक जीवन प्रारम्भ किया।

दीक्षाग्रहण-केवलज्ञान

समस्त भोगावली के क्षीण हो जाने पर लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर भगवान वर्षीदान कर संयम स्वीकार करने को तत्पर हुए। प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने के लिए गृह-त्याग किया और आपके संग अन्य १००० राजाओं ने भी निष्क्रमण किया। मृगशिर कृष्णा षष्ठी का वह पवित्र दिन भी आया जब मूल नक्षत्र के शुभ योग में प्रभु सुविधिनाथ ने सहस्राम्रवन में सिद्धों की साक्षी में स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के पश्चात् तत्काल ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान का लाभ हुआ। श्वेतपुर नरेश महाराजा पुष्प के यहाँ आगामी दिवस प्रभु का पारणा हुआ। दीक्षा-समय से ही अपने मौनव्रत भी धारण कर लिया था।

आत्म-केन्द्रित प्रभु सुविधिनाथ ने ४ माह तक सतत् रूप से दृढ़ ध्यान-साधना की। एकान्त स्थलों पर वे सर्वथा एकाकी रूप में आत्मलीन रहा करते। अनेक परीषहों और उपसर्गों को धैर्यपूर्वक झेलते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करते रहे। प्रभु का ध्यान उत्तरोत्तर उत्कट और आत्मा उन्नत होती चली गयी। अन्ततः सहस्राम्र उद्यान में एक दिन आपने क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया। मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को वे शुक्लध्यान में लीन थे कि घातिककर्म क्षीण हो गये और भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

प्रथम धर्मदेशना

प्रभु के केवली बन जाने पर समवसरण की रचना हुई। अतिशय प्रभावपूर्ण और उद्बोधन युक्त थी—भगवान की प्रथम देशना, जिससे लाभान्वित होने हेतु सुर-नर ही नहीं अनेक पशु-पक्षी भी एकत्रित हो गये थे। जीव-मैत्री का सृजन करने वाले उनके अद्भुत चमत्कारी व्यक्तित्व का अनुमान इससे लग सकता है कि घोर शत्रु साँप और नेवले, सिंह और बकरियाँ तक भय और हिंसा-वृत्ति को विस्मृत कर स्नेह साथ से एकत्र बैठे थे—प्रभु की देशना-सभा में।

भगवान ने अपनी इस प्रथम देशना में सर्वजनहिताय दृष्टि से मुक्ति-मार्ग सुझाया; उस पर यात्रा की क्षमता विकसित करने वाले साधनों की व्याख्या की। आत्मा की अजस्र यात्रा का विवेचन करते हुए प्रभु ने कहा कि आत्मा अनादि काल से कर्म के जटिलतर पाशों में आबद्ध रहता है। कर्म के निश्चित फल भी होते हैं और वे आत्मा को ही भोगने पड़ते हैं। इन भावी कुफलों को जीव ध्यान में ही नहीं रखता और उल्टे-सीधे कर्म में व्यस्त रहता है। उसकी दृष्टि तो कर्मों के तात्कालिक सुखद स्वरूप पर ही रहती है—जो छलावा है, प्रवंचना है। यह अधिक से अधिक राग-द्वेष, काम-मोहादि में धँसता चला जाता है और भावी अशुभ को प्रबलतर बनाता जाता है। यदि इन अशुभ कर्मों से विमुख रहते हुए वह धर्म का आचरण करे, चित्त को उत्कर्ष दे, तो परम शुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है—मुक्ति उसके लिए सुलभ हो जाती है।

हजारों लाखों नर-नारी इस देशना से प्रबुद्ध हुए, उनका आत्मा जागृत हो गया और उन्हें मोक्ष अर्जित करने का लगाव हो गया। हजारों-लाखों गृहस्थों ने संसार त्याग दिया और मुनि जीवन जीने लगे। जो ऐसा न भी कर सके, ऐसे अनेक लोगों ने १२ व्रत धारण किये। प्रभु ने बड़े व्यापक पैमाने पर जनता का मंगल किया। उस काल में एक परम विद्वान पण्डित थे, जिनका नाम वराह था। वराह दीक्षित होकर भगवान के प्रथम गणधर बने और प्रभु के पावन सन्देश का प्रसारण करने लगे। भगवान की इस प्रथम देशना में ही चार तीर्थों की स्थापना हो गयी थी। इसी आधार पर ये भावतीर्थ कहलाये थे।

परिनिर्वाण

भगवान सुविधिनाथ स्वामी को जब अपना अन्त समय निकट ही लगने लगा तो वे परम साधना हेतु सम्मेत शिखर पर पहुँचे और एक मास का अनशन प्रारम्भ किया। प्रभु का अनुसरण उसी स्थल पर एक हजार मुनि भी कर रहे थे। अन्ततः कर्मों का सर्वथा क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में प्रभु ने दुर्लभ निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

विशेष

प्राचीतिहासकारों का व्यक्तव्य है कि भगवान सुविधिनाथ और आगामी अर्थात् १०वें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ के प्रादुर्भाव के मध्य की अवधि धर्मतीर्थ की दृष्टि से बड़ी शिथिल रही। यह 'तीर्थ विच्छेद काल' कहलाता है। इस काल में जनता धर्मच्युत होने लगी थी। श्रावकगण मनमाने ढंग से दान आदि धर्म का उपदेश देने लगे। 'मिथ्या' का प्रचार प्रबलतर हो गया था। कदाचित् यही काल ब्राह्मण-संस्कृति के प्रचार का समय रहा था।

धर्म-परिवार

गणधर	८८
केवली	७,५००

मनःपर्यवज्ञानी	७,५००
अवधिज्ञानी	८,४००
चौदह पूर्वधारी	१,५००
वैक्रियलब्धिधारी	१३,०००
वादी	६,०००
साधु	२,००,०००
साध्वी	१,२०,०००
श्रावक	२,२९,०००
श्राविका	४,७२,०००

□□

चौदह शुभ स्वप्न—तीर्थंकर का जीव जब माता के गर्भ मे आता है तो माता चौदह शुभ स्वप्न देखती है—

१ गज	६ चन्द्र	११ क्षीर समुद्र
२ वृषभ	७ सूर्य	१२ देव विमान
३ सिंह	८ ध्वजा	१३ रत्न राशि
४ लक्ष्मी	९ कुंभ कलश	१४ निर्धूम अग्नि शिखा
५ पुष्प माला	१० पद्म सरोवर	

—कल्पसूत्र सूत्र ३३.

10

भगवान शीतलनाथ

(चिन्ह—श्रीवत्स)

नौवें तीर्थंकर भगवान सुविधिनाथ के पश्चात् धर्मतीर्थ की दृष्टि से विकट समय रहा। इसकी समाप्ति पर भगवान शीतलनाथ स्वामी का जन्म १०वें तीर्थंकर के रूप में हुआ।

पूर्वजन्म

प्राचीन काल में सुसीमा नगरी नामक एक राज्य था, जहाँ के नृपति महाराज पद्मोत्तर थे। राजा ने सुदीर्घकाल तक प्रजा-पालन का कार्य न्यायशीलता के साथ किया। अन्ततः उनके मन मे विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ और आचार्य त्रिस्ताघ के आश्रय में उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया। अनेकानेक उत्कृष्ट कोटि के तप और साधनाओं का प्रतिफल उन्हें प्राप्त हुआ और उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। उस देह के अवसान पर उनके जीव को प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में स्थान मिला।

जन्म-वंश

एक और राज्य उन दिनों था—भद्दिलपुर, जो धर्माचारी राजा एवं प्रजा के लिए प्रसिद्ध था। महाराजा दृढ़रथ वहाँ के भूपति थे, जिनकी महारानी का नाम नन्दा देवी था। महाराजा दृढ़रथ वात्सल्य-भाव के साथ प्रजा का पालन करते थे। दीन-हीनों की सुख-सुविधा के लिए वे सदा सचेष्ट रहा करते थे। राज्य में स्थान-स्थान पर संचालित भोजनशालाएँ एवं दानशालाएँ इसकी प्रमाण थीं। प्रजा भी राजा के आचरण को ही अपनाती थी और अपनी करुणाभावना तथा दानप्रियता के लिए सुख्यात थी।

वैशाख कृष्णा षष्ठी का दिन था और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र का शुभ योग—प्राणत स्वर्ग से पद्मोत्तर का जीव निकलकर रानीनन्दा देवी के गर्भ में स्थित हुआ। महापुरुषों की माताओं की भाँति ही उसने भी १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया। भोली सी माता इन स्वप्नों के प्रभाव से अपरिचित होने के कारण आश्चर्यचकित रह गयी। जिज्ञासावश उसने महाराज से इस प्रसंग की चर्चा की। जब महाराज से रानी को ज्ञात हुआ कि ये स्वप्न उसके लिए जगत् का मंगल करने वाले महापुरुष की जननी होने का संकेत करते हैं, तो वह हर्ष-विभोर हो गयी। यथासमय गर्भकाल की सम्पूर्ति पर महारानी ने एक अति तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया। सारे जगत् में अपूर्व

शान्ति का प्रसार हो गया। राज्यभर ने हर्षोल्लास के साथ कुमार का जन्मोत्सव मनाया। विगत दीर्घकाल से महाराज दृढ़रथ तप्त रोग से पीड़ित थे। पुत्र-जन्म के शुभ परिणामस्वरूप उनका यह रोग सर्वथा शान्त हो गया। जैन इतिहास के पन्नों पर यह प्रसंग इस प्रकार भी वर्णित है कि महाराजा दृढ़रथ अतिशय पीड़ादायक दाह-ज्वर से ग्रस्त थे। गर्भकाल में महारानी नन्दा देवी के सुकोमल करके स्पर्श मात्र से महाराज की व्याधि शान्त हो गयी और उन्हें अपार शीतलता का अनुभव होने लगा। अतः नवजात बालक का नाम शीतलनाथ रखा गया।

गृहस्थ-जीवन

युवराज शीतलनाथ अपरिमित वैभव और सुख-सुविधा के वातावरण में पोषित होने लगे। आयु के साथ-साथ उनका बल-विक्रम और विवेक सुविकसित होने लगा। सामान्यजनों की भाँति ही दायित्वपूर्ति के भाव से उन्होंने ग्रहस्थाश्रम के बन्धनों को स्वीकार किया। पिता महाराज दृढ़रथ ने योग्य सुन्दरी नृप-कन्याओं के साथ कुमार का पाणिग्रहण कराया। दाम्पत्य-जीवन जीते हुए भी वे अनासक्त और निर्लिप्त बने रहे। दायित्वपूर्ति की भावना से ही कुमार शीतलनाथ ने पिता के आदेश को पालन करते हुए राज्यासन भी ग्रहण किया। नृपति बन कर उन्होंने अत्यन्त विवेक के साथ निःस्वार्थ भाव से प्रजापालन का कार्य किया। ५० हजार पूर्व तक महाराज शीतलनाथ ने शासन का संचालन किया और तब भोगावली कर्म के पूर्ण हो जाने पर महाराज ने संयम धारण करने की भावना व्यक्त की। इसी समय लोकान्तिक देवों ने भी भगवान से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की।

दीक्षा-ग्रहण व केवलज्ञान

अब महाराजा शीतलनाथ ने मुक्त-हस्ततापूर्वक दान दिया। वर्षीदान सम्पन्न होने पर दीक्षार्थ वे सहस्राम्रवन में पहुँचे। कहा जाता है कि चन्द्रप्रभा पालकी में आरूढ़ होकर वे राजभवन से गये थे, जिसे एक ओर से मनुष्यों ने और दूसरी ओर से देवताओं ने उठाया था। अब अपार वैभव उनके लिए तृणवत् था। उन्होंने स्वयं ही अपने मूल्यवान वस्त्राभूषणों को उतारा। भौतिक सम्पदाओं का त्याग कर, पंचमुष्टि लोचकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण करली—संसार त्याग कर वे मुनि बन गये। तब माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र का शुभ योग था।

भगवान शीतलनाथ स्वामी मति-श्रुति अवधिज्ञानत्रय से सम्पन्न तो पहले से ही थे। दीक्षा ग्रहण के तुरन्त पश्चात ही उसे उन्हें मनःपर्यवज्ञान का लाभ भी हो गया। इस ज्ञान ने उन्हें यह अद्भुत शक्ति प्रदान की थी कि जिनसे वे प्राणियों के मनोभावों को हस्तामलकवत् स्पष्टता के साथ समझ जाते थे। दीक्षा के आगामी दिवस प्रभु का पारणा (प्रथम) अरिष्टपुर-नरेश महाराजा पुनर्वसु के यहाँ हुआ था। प्रभु ने जिस स्थान पर खड़े रहकर दान ग्रहण किया था स्मारक स्वरूप उस स्थान पर राजा ने एक स्वर्णपीठ का निर्माण करवाया था।

अपने साधक जीवन में प्रभु ने घोर तपस्याएँ कीं। मौनव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए उन्होंने ग्रामानुग्राम विहार किया और सर्वथा एकाकी रहे। ३ माह तक वे इस प्रकार उग्र तपस्या में लीन रहे, भाँति-भाँति के परीषहों को धैर्य और शान्ति के साथ सहन किया एवं छद्मस्थावस्था का काल नितान्त आत्म-साधना में व्यतीत किया।

एक दिन प्रभु शीतलनाथ का आगमन पुनः उसी सहस्राम्रवन में हुआ और वे पीपल के वृक्ष तले परम शुक्लध्यान में लीन हो गये। इस प्रकार उन्होंने ज्ञानावरण आदि घाती कर्मों का समग्रतः विनाश कर पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के पावन पलों में पौष कृष्णा चतुर्दशी को प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली।

प्रथम देशना

केवली प्रभु के विशाल दिव्य समवसरण की रचना हुई। भगवान की धर्म-देशना के अमृत का पान करने के पवित्र प्रयोजन से असंख्य नर-नारी और देवतागण उपस्थित हुए। भगवान शीतलनाथ ने अपनी इस प्रथम देशना में मोक्ष-प्राप्ति के एकमात्र मार्ग 'संवर' की स्पष्ट समीक्षा की और संसार के भौतिक एवं नश्वर पदार्थों के प्रति आसक्ति के भाव को मनुष्य के दुःखों का मूल कारण बताया। प्रभु ने उपदेश दिया कि आत्मा का यह जन्म-मरण-परिचक्र पापकर्मों के कारण ही चलता है। यदि मनुष्य संवर को अपना ले तो यह चक्र सुगमता से स्थगित किया जा सकता है। मनोविकारों पर नियंत्रण ही संवर है। क्षमा की साधना से क्रोध का संवर हो जाता है। विनय और नम्रता अहंकार को समाप्त कर देती है। पूर्णतः संवर स्थिति को प्राप्त कर लेने पर आत्मा को विशुद्धता की अवस्था मिल जाती है और मुक्ति सुलभ हो जाती है। भगवान के उपदेश का सार आचार्य हेमचन्द्र की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

"आस्रवो भव हेतुः स्याद् संवरो मोक्षकारणम्।"

अर्थात्—आस्रव संसार का और संवर मोक्ष का कारण है। इस प्रेरक देशना से उद्बोधित होकर सहस्र-सहस्र नर-नारी दीक्षित होकर मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हुए। भगवान ने चतुर्विध संघ स्थापित किया और उन्होंने भावतीर्थंकर होने का गौरव प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

भगवान ने विस्तृत क्षेत्रों के असंख्य-असंख्य जनों को अपने उपदेशों से लाभान्वित किया एवं अन्तकाल समीप आने पर आपने एक माह का अनशन प्रारम्भ किया। एक हजार अन्य मुनिजनों ने भगवान का अनुसरण किया। वैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में भगवान ने समस्त कर्मों को क्षीण कर दिया और वे सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये, उन्हें निर्वाणपद प्राप्त हो गया।

धर्म-परिवार

गणधर	८१
केवली	७,०००
मनःपर्यवज्ञानी	७,५००
अवधिज्ञानी	७,२००
चौदह पूर्वधारी	१,४००
वैक्रियलब्धिधारी	१२,०००
वादी	५,८००
साधु	१,००,०००
साध्वी	१,०६,०००
श्रावक	२,८९,०००
श्राविका	४,५८,०००

□□

11

भगवान श्रेयांसनाथ

(चिन्ह—गेंडा)

तीर्थंकर परम्परा में भगवान श्रेयांसनाथ स्वामी का ग्यारहवाँ स्थान है। अस्थायी और नश्वर सांसारिक सुखोपभोग के छलावे में भटकी मानवता को भगवान ने अक्षय आनन्द के उद्गम, श्रेय मार्ग पर आरूढ़ कर उसे गतिशील बना दिया था। श्रेयांसनाथ नाम को कैसा चरितार्थ कर दिखाया था प्रभु ने !

पूर्व जन्म

भगवान श्रेयांसनाथ स्वामी की विशद उपलब्धियों के आधार स्वरूप उनके पूर्वजन्मों के सुसंस्कार-बड़े ही व्यापक थे। पुष्करवर द्वीपार्द्ध की क्षेमा नगरी के महाराजा नलिनीगुल्म के गृह में ही भगवान का जीव पूर्वभव में रहा। महाराज नलिनीगुल्म वर्षों तक नीतिपूर्वक प्रजापालन करते रहे और अन्ततः आत्मप्रेरणा से ही उन्होंने राज्य, परिवार, धन-वैभव सब कुछ त्याग कर संयम ग्रहण कर लिया। उन्होंने ऋषि वज्रदत्त से दीक्षा ली और अपनी साधना तथा उग्र तपों के बल पर कर्मों का क्षय किया। महाराजा नलिनीगुल्म का जीव महाशुक्रकल्प में ऋद्धिमान देव बना।

जन्म-वंश

महाराजा विष्णु सिंहपुरी नगरी में राज्य करते थे। उनकी धर्मपत्नी रानी विष्णुदेवी अत्यन्त शीलवती थी। यही राज-दम्पत्ति भगवान श्रेयांसनाथ के अभिभावक थे। श्रवण नक्षत्र में ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी को नलिनीगुल्म का जीव महाशुक्रकल्प से च्यव कर रानी विष्णुदेवी के गर्भ में स्थित हुआ। इतनी महान् आत्मा के गर्भ में आने के कारण रानी द्वारा १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन स्वाभाविक ही था। स्वप्नों के भावी फलों से अवगत होकर माता के मन में हर्ष का ज्वार ही उमड़ आया। यथासमय रानी विष्णुदेवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। वह शुभ घड़ी थी—भाद्रपद कृष्णा द्वादशी की। भगवान के जन्म से संसार की उग्रता समाप्त हो गयी और सर्वत्र सुखद शान्ति का साम्राज्य फैल गया। बालक अति तेजस्वी था, मानो व्योम-सीमा में बाल रवि उदित हुआ हो। उनके शारीरिक शुभलक्षणों से उनकी भावी महानता का स्पष्ट संकेत मिला करता था। इस बालक का माता के गर्भ में प्रवेश होते ही सारे राज्य में नीतिशीलता, विवेक और धर्म-प्रवृत्ति प्रबल हो गयी थी। इन प्रभावों के आधार पर युवराज का नाम श्रेयांसकुमार रखा गया। वस्तुतः इनके जन्म से सारे देश का कल्याण (श्रेय) हुआ था।

गृहस्थ-जीवन

पिता महाराज विष्णु के अत्याग्रहवश श्रेयांस कुमार ने योग्य, सुन्दरी नृप-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया। उचित वय प्राप्ति पर महाराजा विष्णु ने कुमार को राज्यारूढ़ कर उन्हें प्रजा-पालन का सेवाभार सौंप दिया एवं स्वयं साधना मार्ग पर अग्रसर हो गये। नृप के रूप में श्रेयांसकुमार ने अपने दायित्वों का पूर्णतः पालन किया। प्रजाजन के जीवन को दुःखों और कठिनाइयों से रक्षित करना—मात्र यही उनके राज्यत्व का प्रयोजन था। सत्ता का उपभोग और विलासी-जीवन व्यतीत करना उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। उनके राज्य में प्रजा सर्व भाँति प्रसन्न एवं सन्तुष्ट थी। जब श्रेयांसकुमार के पुत्र योग्य और दायित्व ग्रहण के लिए सक्षम हो गये तो उन्हें राज्य भार सौंपकर आत्म-कल्याण की साधना में रत हो जाने की कामना उन्होंने व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने इस निमित्त प्रभु से प्रार्थना की। राजा ने एक वर्ष तक अति उदारता के साथ दान-पुण्य किया। उनके द्वार से कोई याचक निराश नहीं लौटा।

दीक्षा एवं केवलज्ञान

वर्षीदान सम्पन्न कर महाराज श्रेयांस ने गृहत्याग कर अभिनिष्क्रमण किया और सहस्राम्रवन में पहुँचे। वहाँ अशोकवृक्ष तले उन्होंने समस्त पापों से मुक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करली। उस समय वे बेले की तपस्या में थे। दीक्षा लेते ही मुनि श्रेयांसनाथ ने मौन-व्रत अंगीकार कर लिया। दूसरे दिन सिद्धार्थपुर नरेश महाराज नन्द के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

दीक्षोपरान्त दो माह तक भीषण उपसर्गों एवं परीषहों को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए, अचचल मन से साधनारत प्रभु ने विभिन्न बस्तियों में विहार किया। माघ कृष्णा अमावस्या के दिन क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर उन्होंने मोह को पराजित कर दिया और शुक्लध्यान द्वारा समस्त घातीकर्मों का क्षय कर, षष्ठ तप कर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

प्रथम देशना

समवसरण में देव मनुजों के अपार समुदाय को प्रभु ने केवली बनकर प्रथम धर्मदेशना प्रदान की। प्रभु ने चतुर्विध धर्मसंघ स्थापित किया एवं भाव तीर्थंकर पद पर प्रतिष्ठित हुए।

धर्म-प्रभाव

भगवान श्रेयांसनाथ अत्यन्त लोकप्रिय उद्धारक थे। अनेक क्रूर अध्यवसायी-जनों का हृदय परिवर्तन कर उन्हें सुमार्ग पर लाने में भगवान की सफलता के अनेक प्रसंग प्रसिद्ध हैं। एक दृष्टांत द्वारा प्रभु की इस अद्वितीय क्षमता का परिचय दिया जा सकता है—

केवली होने के अनंतर प्रभु विचरण करते-करते एक समय पोतनपुर पहुँचे।

पोतनपुर उस समय की राजनीति का प्रसिद्ध केन्द्र था। अत्यन्त बलवान और पराक्रमी महाराजा त्रिपृष्ठ पोतनपुर के राजा थे जो प्रथम वासुदेव कहलाते हैं। भगवान जब नगर के उद्यान में पहुँचे तो आगमन का संदेश लेकर वहाँ का माली राजा की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान के पदार्पण की सूचना मात्र से त्रिपृष्ठ हर्ष-विभोर हो गया। उसने संदेशवाहक माली को १२ करोड़ ५० लाख मुद्राएँ पुरस्कार में प्रदान कीं। अपने भ्राता बलदेव अचल के साथ राजा तुरंत भगवान की वंदना हेतु उद्यान में पहुँचा। भगवान श्रेयांसनाथ स्वामी की उत्प्रेरक वाणी से प्रभावित होकर दोनों बंधुओं ने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया।

यहाँ वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ और प्रथम बलदेव अचल का संक्षिप्त परिचय भी आवश्यक प्रतीत होता है। त्रिपृष्ठ राजा प्रजापति का पराक्रमी पुत्र था। इस काल के प्रथम प्रतिवासुदेव के रूप में राजा अश्वग्रीव था। उसे भविष्यवाणी द्वारा ज्ञात हुआ कि उसका संहारक कहीं वासुदेव रूप में जन्म ले चुका है, सो वह भयातुर एवं चिंतित रहने लगा। विविध प्रकार से वह अपने शत्रु की खोज करने लगा। इधर प्रजापति-पुत्र त्रिपृष्ठ की पराक्रम गाथाओं को सुनकर उसे उस पर संदेह हुआ, जिसकी एक घटना से पुष्टि भी हो गई। अश्वग्रीव के राज्य में किसी शालि के खेतों में सिंह वनराज का आतंक था। प्रजा नित्य-प्रति की जनहानि से सदा भयभीत रहती थी। प्रजापति को इस विघ्न का विनाश करने के लिए अश्वग्रीव की ओर से निवेदन किया गया। दोनों कुमारों ने मांद में प्रवेश कर सोये सिंह को ललकारा और त्रिपृष्ठ ने क्रुद्ध सिंह के मुख को जीर्ण वस्त्र की भाँति चीर कर उसका प्राणांत कर दिया। इस पराक्रम प्रसंग से अश्वग्रीव को विश्वास हो गया कि त्रिपृष्ठ ही मेरा संहारक होगा और वह छल-बल से उसे समाप्त करने की योजनाएँ बनाने लगा। उसने एक सुन्दर उपक्रम यह किया कि शूर-वीरता के लिए दोनों बंधुओं को सम्मानित करने के लिए उन्हें अपने राज्य में निमंत्रित किया। इस बहाने वह दोनों को उनकी असावधानी में समाप्त कर देना चाहता था, किन्तु त्रिपृष्ठ ने यह कहकर निमंत्रण अस्वीकार कर दिया कि जो एक सिंह को नहीं मार सका, उस राजा से सम्मानित होने में हमारा सम्मान नहीं बढ़ता।[1]

---

१ त्रिषष्टिशलाका० में यहाँ दूसरी भी घटना दी गई है। वह घटना इस प्रकार है—कुमार त्रिपृष्ठ का विवाह विद्याधर ज्वलनजटी की पुत्री स्वयंप्रभा से हुआ था। स्वयंप्रभा अनुपम सुन्दरी थी। पोतनपुर नरेश प्रजापति और विद्याधर ज्वलनजटी दोनों ही प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के अधीन थे। उसने त्रिपृष्ठ की पत्नी स्वयंप्रभा को अपने लिए माँगा क्योंकि अश्वग्रीव अपने राज्य के सभी उत्तम रत्नों को अपने लिए ही उपभोग्य समझता था।

त्रिपृष्ठ को अश्वग्रीव की माँग अनुचित लगी। उन्होंने उनके दूत का तिरस्कार भी कर दिया और स्वयंप्रभा को देने से स्पष्ट इन्कार।

इस उत्तर से अश्वग्रीव क्रुद्ध हो गया और अपार सैन्य के साथ उसने प्रजापति के राज्य पर आक्रमण कर दिया। दोनों पक्षों की ओर से घमासान युद्ध हुआ। युद्ध का कोई निर्णय निकलता न देखकर युद्ध के भयंकर विनाश को टालने के प्रयोजन से त्रिपृष्ठ ने प्रस्ताव रखा कि सेनाओं का युद्ध स्थगित कर दिया जाये और अश्वग्रीव मेरे साथ द्वन्द्व-युद्ध करे। अश्वग्रीव ने प्रस्ताव पर स्वीकृति दे दी और अब प्रचण्ड द्वन्द्व युद्ध शुरू हुआ। अन्ततः बलिष्ठ त्रिपृष्ठ के हाथों अश्वग्रीव मारा गया।

त्रिपृष्ठ कितना निर्दयी और क्रूर-कर्मी था—इसका परिचय भी एक घटना से मिलता है। उस काल का एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ एक बार राजा त्रिपृष्ठ के दरबार में आया। रात्रि के समय संगीत का आयोजन हुआ। त्रिपृष्ठ अपने द्वारपाल[1] को यह कर्त्तव्य सौंप कर शयनागार में चला गया कि मुझे निद्रा आ जाने पर संगीत रुकवा दिया जाए। संगीत की मधुर लहरियों में खोया मुग्ध द्वारपाल अपने इस कर्त्तव्य को भूल गया। राजा के सो जाने पर भी संगीत चलता रहा। जब त्रिपृष्ठ की नींद खुली तो संगीत चल रहा था। क्रोधित होकर उसने द्वारपाल से इसका कारण पूछा। द्वार-पाल ने निरीहता के साथ अपना अपराध स्वीकार किया और कर्णप्रिय संगीत से बेसुध हो जाने का सारा वृत्तान्त प्रस्तुत कर दिया। निर्दयतापूर्वक त्रिपृष्ठ ने उसे भयंकर दण्ड दिया। जिन कानों के कारण उसने कर्त्तव्य में भूल की थी, उनमें गर्म-गर्म पिघला हुआ सीसा उड़ेल दिया। बेचारे द्वारपाल ने तड़प-तड़प कर प्राण त्याग दिये और निष्ठुर राजा क्रूर अट्टहास करता रहा।

अपनी ऐसी-ऐसी निर्मम और दुष्ट प्रवृत्तियों के कारण त्रिपृष्ठ के सम्यक्त्व का नाश हो गया था और उसे ७वें नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ीं। त्रिपृष्ठ की मृत्यु पर शोकाकुल बलदेव भी हतचेता हो गया। सुध-बुध आने पर उसने प्रभु को ही एक-मात्र त्राता मान कर उनके श्री चरणों का ध्यान किया, उनकी वाणी का स्मरण किया। उसके हृदय के बन्द द्वार पुनः खुल पड़े। उसका विवेक पुनर्जागृत हुआ और वह संसार की नश्वरता का प्रत्यक्षतः अनुभव करने लगा। विरक्ति का भाव प्रबलता के साथ उसके मन में जगने लगा और अन्ततः वह जगत से विमुख हो गया। आचार्य धर्मघोष का वचनामृत का पान कर वह दीक्षित हुआ एवं संयम, तप और साधना की शक्ति अर्जित करने लगा, जिसके परिणामस्वरूप वह समस्त कर्मों को क्षीण करने में समर्थ हुआ और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गया।

भगवान श्रेयांसनाथ का ऐसा अद्भुत प्रभाव था। अपने इस प्रबल प्रभाव से

इस पर अश्वग्रीव क्रुद्ध हो गया। वह पोतनपुर पर चढ़ आया। रथावर्त पर्वत पर त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव में घोर युद्ध हुआ। अन्ततः अश्वग्रीव मारा गया और त्रिपृष्ठ विजयी हुए।

१ त्रिषष्टिशलाका० में इसे शय्यापालक बताया गया है।

प्रभु जन-जन को कल्याण का मार्ग बताते और उस मार्ग को अपनाने की प्रेरणा देते हुए लगभग २१ लाख पूर्व वर्ष तक विचरण करते रहे।

परिनिर्वाण

अन्ततः अपने जीवन की सांध्य वेला को निकट पहुंची जानकर भगवान ने १००० मुनियों के साथ अनशन कर लिया और ध्यानरत हो गये। शुक्लध्यान की चरम दशा में पहुंचकर श्रावण कृष्णा तृतीया के धनिष्ठा नक्षत्र में भगवान सकल कर्मों का क्षयकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	७६
केवली	६,५००
मनःपर्यवज्ञानी	६,०००
अवधिज्ञानी	६,०००
चौदह पूर्वधारी	१,३००
वैक्रियलब्धिधारी	११,०००
वादी	५,०००
साधु	८४,०००
साध्वी	१,०३,०००
श्रावक	२,७६,०००
श्राविका	४,४८,०००

□□

12

भगवान वासुपूज्य

(चिन्ह—महिष)

भगवान वासुपूज्य स्वामी बारहवें तीर्थंकर हुए हैं। आप प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने दृढ़तापूर्वक गृहस्थ-जीवन न जीकर और अविवाहित रहकर ही दीक्षा ग्रहण की।

पूर्वजन्म

पुष्करद्वीप में मंगलावती विजय की रत्नसचया नगरी के शासक पद्मोत्तर के जीवन मे अध्यात्म का बड़ा महत्त्व था। उन्होंने सतत् रूप से जिन-शासन की भक्ति की थी। ऐश्वर्य की अस्थिरता और जीवन की नश्वरता को वे भलीभाँति हृदयंगम कर चुके थे। अतः इन प्रवंचनाओं से वे सदा दूर ही दूर रहे। जीवन की सार्थकता और उसका सदुपयोग किस में है? इस प्रश्न को उन्होंने स्वतः चिन्तन द्वारा सुलझाया और अनुभव किया कि इस अनित्य शरीर के माध्यम से साधना करके अक्षुण्ण मोक्ष की प्राप्ति करने में ही जीवन का साफल्य निहित है। ऐसी मनोदशा में उन्हें गुरु वज्रनाभ के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन्हें एक व्यवस्थित मार्ग मिल गया। राजा पद्मोत्तर ने उनके उपदेश से सर्वथा अनासक्त होकर संयम धारण कर लिया। अर्हद्भक्ति और अन्य साधनाओं द्वारा उन्होंने आत्मा का उत्थान किया एवं नाम तीर्थंकर के गौरव से विभूषित हुए। शुक्लध्यान में लीन पद्मोत्तर ने मरण प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग मे ऋद्धिमान देव के रूप में जन्म लिया। यही महाराज पद्मोत्तर का जीव आगे चलकर भगवान वासुपूज्य के रूप में अवतरित हुआ था।

जन्म-वंश

चम्पा नगरी में अत्यन्त पराक्रमी राजा वसुपूज्य का शासन था। उनकी धर्मपत्नी का नाम महारानी जया था। ये ही भगवान के अभिभावक थे। महाराज वसुपूज्य के पुत्र होने के नाते ही इनका नाम 'वासुपूज्य' रहा। ज्येष्ठ शुक्ला नवमी का शतभिषा नक्षत्र का वह पवित्र समय था जब पद्मोत्तर का जीव प्राणत स्वर्ग से च्युत होकर माता जयादेवी के गर्भ में स्थित हुआ था। उसी रात्रि में रानी ने १४ महान् स्वप्नों का दर्शन किया और भावी शुभ फलों के आभास मात्र से वह प्रफुल्लित हो गयी। उसे विश्वास था कि वह किसी तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती पुत्र की जननी

कहलाएगी। फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र में ही प्रसन्नचित्त रानी ने पुत्र श्रेष्ठ को जन्म दिया।

कुमार वासुपूज्य के जन्म से राज्य भर में अतिशय हर्ष व्याप्त हो गया। पिता महाराजा वसुपूज्य ने १२ दिन का उत्सव आयोजित किया और नागरिक जनों ने महाराजा की सेवा में नाना प्रकार की भेंट प्रस्तुत कर हार्दिक उल्लास को व्यक्त किया। बालक वासुपूज्य दिव्य सौन्दर्य से सम्पन्न था। उसकी देह से कान्ति विकीर्ण होती थी। ममता और आनन्द, वैभव और सुख के वातावरण में बालक उत्तरोत्तर विकसित होता रहा। विवाह के योग्य आयु होने तक वासुपूज्य में पराक्रम और बलिष्ठता के साथ-साथ रूप और माधुर्य भी अपरिमित रूप में विकसित हो चुका था। प्रतिष्ठित नरेश अपनी कन्याओं का विवाह कुमार वासुपूज्य के साथ करने को लालायित रहते थे। अनेक प्रस्ताव आये। परमलावण्यवती राजकुमारियों के चित्रों का अम्बार-सा लग गया। सभी ओर एक अपूर्व उत्साह और उमंग भरा वातावरण देखकर कुमार वासुपूज्य ने अपने माता-पिता के विचार का अनुमान लगा लिया, किन्तु कुमार का संकल्प तो अविवाहित रूप में ही दीक्षा ग्रहण करने का था। क्षणभर के लिए तो इस विपरीत परिस्थिति को देखकर वे विचलित हो गये। माता की इस आकांक्षा से भी वे परिचित थे कि वे अपने पुत्र के लिए सुयोग्य वधू लाना चाहती हैं। यह भी जानते थे कि माता की यह साध पूर्ण न होने पर उन्हें कितनी वेदना होगी। पिता की यह मनोकामना भी अपूर्ण ही रहने को थी कि युवराज शासन सूत्र संभाल कर प्रजापालन करें। इस कारण भी कुमार वासुपूज्य के मन में एक विशेष प्रकार का द्वन्द्व मचा हुआ था तथापि वे कौमार्य व्रत पर अडिग भाव से टिके रहे।

यह प्रसंग खुल कर सामने आया। पिता ने कोमलता के साथ कहा—युवराज! हम तुम्हारा विवाह तुम्हारी दृष्टि में उपयुक्त कन्या के साथ कर देना चाहते हैं और तब तुम्हें शासन का भार सौंप कर हम आत्म-कल्याण हेतु साधना-मार्ग को अपनाना चाहते हैं। तुम जानते हो अब शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना ही हमारा भावी लक्ष्य है।

धीर-गंभीर राजकुमार ने विनयपूर्वक उत्तर में निवेदन किया कि जिस शान्ति की कामना आपको है, मैं भी उसी का अभिलाषी हूँ। इस विषय में किसी आयु-विशेष का विधान भी नहीं है कि वृद्धावस्था में ही व्यक्ति शान्ति और मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करे, इससे पूर्व नहीं। आप जिस सांसारिक जाल से मुक्त होना चाहते हैं, उसी में मुझे क्यों ग्रस्त करना चाहते हैं? और जब मुझे सांसारिक विषयों से विरक्त होना ही है, तो फिर जान-बूझकर मैं पहले उनमें पड़ूँ ही क्यों?

अपने पुत्र के दृष्टिकोण से अवगत होकर माता-पिता के हृदय को आघात लगा। वे अवाक् से रह गये। गृहस्थाश्रम के योग्य आयु में कुमार क्यों त्यागी हो

जाना चाहता है? उन्होंने आपने पुत्र के सम्बन्ध में जो-जो मधुर कल्पनाएँ पोषित कर रखी थीं, एक-बारगी ही वे सब चल-चित्र की भांति उनकी आँखों के सामने से निकल गयीं। पिता ने फिर अनुरोध किया कि हमें निराश न करो और विवाह के लिए स्वीकृति दे दो। हमारे स्वप्नों को आकार लेने दो। किन्तु कुमार वासुपूज्य अडिग बने रहे।

पिता वसुपूज्य महाराजा ने यह भी कहा कि पुत्र, यदि तुम दीक्षा ग्रहण करना भी चाहते हो तो करो, कोई बाधा नहीं है किन्तु उसके पूर्व विवाह तो करलो! आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव एवं अन्य तीर्थंकरों के उदाहरण देते हुए राजा ने अपने पक्ष को पुष्ट किया कि वैराग्य के पूर्व उन सभी ने विवाह किये थे—गृहस्थ-धर्म का पालन किया था। इसी प्रकार की हमारी परम्परा रही है। युवराज को परम्परा का यह तर्क भी उनके विचार से डिगा नहीं सका। उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि परम्परा का अन्धानुकरण अनुचित है। पूर्व तीर्थंकरों की आत्मा में मोहकर्म अवशिष्ट था। अतः उन्होंने विवाह किये। मुझ में मोहकर्म शेष नहीं रहा, अतः मुझे इसकी आवश्यकता ही नहीं है। व्यर्थ परम्परा-पालन के लिए मैं सांसारिक विषयों में नहीं पड़ना चाहता। उन्होंने यह कथन भी किया कि भविष्य में होने वाले तीर्थंकर मल्लिनाथ, नेमिनाम आदि भी अविवाहित अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण करेंगे। वह भी तो कोई परम्परा बनेगी! जो कल उपयुक्त समझा जायगा, उसे आज अनुपयुक्त क्यों माना जाय?

कुमार के अडिग संकल्प को देखकर माता-पिता बड़े दुखित और निराश हुए। उनकी मानसिक वेदना का अनुमान लगाना भी कठिन है। वृद्ध माता-पिता सांसारिक बने बैठे हैं और नवयुवक पुत्र संयम ग्रहण करने को उतावला हो रहा है। किन्तु होना ऐसा ही था। माता-पिता ने कुमार का विचार परिवर्तित करने का प्रत्येक संभव प्रयास कर लिया, किन्तु उन्हें तनिक भी सफलता नहीं मिली। अन्ततः विवश होकर राजा-रानी ने अपने राजकुमार को दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दे दी।

दीक्षा एवं केवलज्ञान

मर्यादानुरूप लोकान्तिक देवों ने वासुपूज्य से धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की। कुमार ने उदारतापूर्वक एक वर्ष तक विपुल दान दिया। वर्षीदान के सम्पन्न हो जाने पर दीक्षार्थ जब कुमार वासुपूज्य ने अभिनिष्क्रमण किया, तो इस महान् और अनुपम त्याग को देखकर जन-मन गद्गद् हो उठा था। आपने समस्त पापों का क्षय कर फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र में श्रमणत्व अंगीकार कर लिया। महाराजा सुनन्द (महापुर-नरेश) के यहाँ भगवान का प्रथम पारणा हुआ।

छद्मस्थचर्या में रहकर भगवान वासुपूज्य ने कठोर साधनाएँ और तप किये। एक मास तक वे वन-वन विचरण करते रहे और फिर वे उसी उपवन में पहुँच गये जहाँ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। पाटल वृक्ष के नीचे उन्होंने ध्यान लगा लिया।

शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में पहुँच कर प्रभु ने चार घातिक कर्मों का क्षय कर दिया और उपवास की अवस्था में उन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। अब प्रभु केवली हो गये थे।

प्रथम धर्म देशना

भगवान वासुपूज्य स्वामी ने अपनी प्रथम देशना में अपार जन-समुदाय को मोक्ष का मार्ग समझाया। प्रभु ने अपनी इस देशना में दशविध धर्म की व्याख्या की और चतुर्विध संघ स्थापित किया। वे भाव तीर्थंकर की अनुपम गरिमा से विभूषित हुए थे।

धर्म-प्रभाव

भगवान वासुपूज्य स्वामी का प्रभाव सामान्य जनता से लेकर राजघरानों तक समानता के साथ व्याप्त था। वे जन-जन का मंगल करते हुए विचरण करते रहे। इसी प्रकार अपने विहार के दौरान एक समय वे द्वारिका पहुँच गये। वहाँ उस समय द्वितीय वासुदेव द्विपृष्ठ का राज्य था। कुछ ही समय पूर्व की चर्चा है कि द्विपृष्ठ का घोर शत्रु प्रतिवासुदेव तारक नामक एक अन्य राजा था, जो द्विपृष्ट की प्रजा को कष्ट दिया करता था। दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति अतिशय घृणा थी और वे परस्पर प्राणों के ग्राहक बने हुए थे। ये परिस्थितियाँ अपनी चरमावस्था में युद्ध के रूप में परिणत हो गयीं और प्रतिवासुदेव तारक द्वितीय वासुदेव द्विपृष्ट के हाथों मारा गया था।

भगवान वासुपूज्य के आगमन की शुभ सूचना पाकर द्विपृष्ठ बहुत प्रसन्न हुआ। उसके हर्षातिरेक का अनुमान इस तथ्य से भी लग सकता है कि प्रभु के पदार्पण की सूचना लाने वाले को नरेश ने १२॥ करोड़ मुद्राओं का पुरस्कार प्रदान किया था। अत्यन्त भक्ति भाव के साथ द्विपृष्ठ सपरिवार प्रभु की चरण-वन्दना करने को पहुँचा। भगवान ने उन्हें मनोविकारों को जीतने और क्षमाशील बनने की महती देशना दी। राजा द्विपृष्ठ के मन में ज्ञान की रश्मियाँ प्रसरित होने लगीं। उसने जिज्ञासावश भगवान को तारक के साथ का अपना सारा प्रसंग सुनाते हुए प्रश्न किया कि भगवान! क्या हम दोनों के मध्य पूर्वभवों का कोई वैर था?

भगवान ने गम्भीरतापूर्वक 'हाँ' के आशय में मस्तक हिलाया और इन दोनों के पूर्व जन्म की कथा सुनाने लगे। पर्वत नाम का एक राजा था, जो अपने नीति-निर्वाह और प्रजा-पालन के लिए तो प्रसिद्ध था, किन्तु वह अधिक शक्तिशाली न था। इसके विपरीत एक अन्य राजा विन्ध्यशक्ति अत्यधिक शक्तिशाली तो था, किन्तु वह दुष्ट प्रवृत्तियों वाला था। पर्वत के राज्य में अनुपम लावण्यमयी, संगीत-नृत्य-कलाओं में निपुण एवं सुन्दरी गुणमंजरी रहा करती थी, जिस पर मुग्ध होकर विन्ध्यशक्ति ने पर्वत से उसकी माँग की। इस पर पर्वत ने स्वयं को घोर अपमानित सा अनुभव किया। विन्ध्यशक्ति की कामातुरता और अनुचित व्यवहार के कारण पर्वत ने

उसकी भर्त्सना की । विन्ध्यशक्ति ने कुपित होकर पर्वत पर आक्रमण कर दिया। युद्ध का परिणाम तो स्पष्ट था ही । विन्ध्यशक्ति के समक्ष वेचारा पर्वत कैसे टिक पाता ? वह पराजित हो गया और विरक्त होकर उसने दीक्षा ले ली । उग्रतप भी उसने किये पर विन्ध्यशक्ति के प्रति शत्रुता व घृणा का भाव सर्वथा शान्त नहीं हुआ था। आगामी जन्म में विन्ध्यशक्ति से प्रतिशोध लेने के लिए उसने संकल्प ले लिया।

भगवान ने स्पष्ट किया कि राजा पर्वत का जीव तुम्हारे (द्विपृष्ठ के) रूप में और विन्ध्यशक्ति का जीव तारक के रूप में जन्मे हैं। उस संकल्प शक्ति के कारण ही तुम्हारे हाथों तारक का हनन हुआ है।

क्षमाशीलता की महत्ता पर भगवान की देशना का द्विपृष्ठ पर बड़ा गहरा प्रभाव हुआ । उसकी क्रोध-वृत्ति का शमन हो गया। उसने सम्यक्त्व एवं उसके भ्राता विजय बलदेव ने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया।

परिनिर्वाण

इस प्रकार भगवान व्यापक रूप से धर्म का प्रचार-प्रसार कर जन-जन का उद्धार करने में सचेष्ट बने रहे । अन्तिम समय में वे ६०० मुनियों के साथ चम्पा नगरी पहुँच गये और सभी ने अनशन व्रत प्रारम्भ कर दिया। शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में पहुँच कर आपने समस्त कर्मराशि को क्षय कर दिया और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन गये । उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। वह शुभ दिन आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी का और शुभ योग उत्तराभाद्रपद नक्षत्र का था।

धर्म-परिवार

गणधर	६६
केवली	६,०००
मनःपर्यवज्ञानी	६,१००
अवधिज्ञानी	५,४००
चौदह पूर्वधारी	१,२००
वैक्रियलब्धिधारी	१०,०००
वादी	४,७००
साधु	७२,०००
साध्वी	१,००,०००
श्रावक	२,१५,०००
श्राविका	४,३६,०००

□□

13

भगवान विमलनाथ

(चिन्ह—शूकर)

भगवान विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर हुए हैं।

"जिसके निकट देवगण विद्यमान हैं, ऐसे उत्तम देदीप्यमान सिंहासन पर विराजित हे विमलनाथ ! जो आपकी सेवा करते हैं, वे देव-प्रार्थनीय, निर्मल और प्रकाशमान सुख को प्राप्त करते हैं।"

पूर्वजन्म

धातकीखण्ड के अन्तर्गत महापुरी नगरी नामक एक राज्य था। महाराजा पद्मसेन यहाँ के यशस्वी नरेश हुए हैं। वे अत्यन्त धर्मपरायण एवं प्रजावत्सल राजा थे। अन्तः प्रेरणा से वे विरक्त हो गये और सर्वगुप्त आचार्य से उन्होंने दीक्षा प्राप्त कर ली। प्रव्रजित होकर पद्मसेन ने जिनशासन की महत्वपूर्ण सेवा की थी। उन्होंने कठोर संयमाराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था। आयुष्य के पूर्ण होने पर समाधिभाव से देहत्याग कर वे सहस्रार कल्प में ऋद्धिमान देव बने। इन्हीं का जीव भगवान विमलनाथ के रूप में उत्पन्न हुआ था।

जन्मवंश

कंपिलपुर के राजा कृतवर्मा इनके पिता और रानी श्यामादेवी इनकी माता थीं। सहस्रार कल्प से निकल कर पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तरा-भाद्रपद नक्षत्र की शुभ घड़ी में माता के गर्भ में स्थित हुआ। गर्भ-धारण की रात्रि में ही माता रानी श्यामादेवी ने शुभसूचक १४ दिव्यस्वप्न देखे और फल जानकर अत्यन्त गर्वित एवं हर्षित हो उठी। वह सावधानीपूर्वक गर्भ को पोषित करने लगी और यथासमय उसने स्वर्णकान्ति पूर्ण देहधारी एक तेजस्वी और सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। वह शुभ घड़ी माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में चन्द्र के योग की थी।

उल्लसित प्रजाजन ने राज्य भर में और देवों ने सुमेरु पर्वत पर उत्साह के साथ जन्मोत्सव आयोजित किया। गर्भ की अवधि में माता तन-मन से निर्मल रही। इसे बालक के गर्भस्थ होने का प्रभाव मानते हुए राजा कृतवर्मा ने इसका नाम विमलनाथ रखा।

गृहस्थ-जीवन

इन्द्र के आदेश से देवांगनाओं ने कुमार विमलनाथ का लालन-पालन किया। मधुर बाल्यावस्था की इतिश्री के साथ ही तेजयुक्त यौवन में जब युवराज ने प्रवेश किया तो वे अत्यन्त पराक्रमशील व्यक्तित्व के धनी बन गये। उनमें १००८ गुण विद्यमान थे। सांसारिक भोगों के प्रति अरुचि होते हुए भी माता-पिता के आदेश का निर्वाह करते हुए कुमार ने स्वीकृति दी और उनका विवाह योग्य राजकन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। अब वे दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने लगे।

जब कुमार की वय १५ लाख वर्ष की हुई, तो पिता ने उन्हें सिंहासनारूढ़ कर दिया। नृप विमलनाथ ने शासक के रूप में भी निपुणता और सुयोग्यता का परिचय दिया। वे सुचारू रूप से शासन-व्यवस्था एवं प्रजा-पालन करते रहे।

दीक्षा-केवलज्ञान

३० लाख वर्षों तक उन्होंने राज्याधिकार का उपभोग किया था कि एक दिन उनके मन में सोयी हुई विरक्ति जागृत हो उठी। लोकान्तिक देवों ने भी उनसे धर्मतीर्थ प्रवर्तन की प्रार्थना की, जिससे प्रभु को विश्वास हो गया कि दीक्षार्थ उपयुक्त समय अब आ ही गया है। अतः संयम ग्रहण का संकल्प और सशक्त हो गया। उन्होंने उत्तराधिकारी को शासन-भार सौंपकर निवृत्ति ग्रहण करली और वर्षीदान आरम्भ किया। उदारतापूर्वक वे वर्ष भर तक दान देते रहे।

माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में विरक्त विमलनाथ गृहत्याग कर १,००० राजाओं के साथ सहस्राम्रवन में दीक्षा ग्रहण करने को पहुँचे। षष्ठभक्त की तपस्या करके वे दीक्षित हो गये। आगामी दिवस धान्यकूटपुर नरेश महाराजा जय के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

दृढ़ संयम का पालन करते हुए भगवान ग्रामानुग्राम विचरते रहे। अनेक प्रकार के परीषहों को समतापूर्वक सहन किया, निस्पृह बने रहे, अभिग्रह धारण करते रहे—और इस प्रकार २ वर्ष की साधना अवधि भगवान ने पूर्ण कर ली। तब वे कंपिलपुर के उद्यान में पुनः पहुँच गये। जहाँ जम्बू वृक्ष तले जाकर वे क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हुए और पौष शुक्ला षष्ठी को ४ घातिक कर्मों का क्षय कर भगवान ने बेले की तपस्या से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

प्रथम देशना

प्रभु विमलनाथ के केवली बन जाने पर सर्वत्र हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। महोत्सव मनाया गया जिसमें देवतागण भी सम्मिलित हुए। देवताओं ने समवसरण की रचना की और जन-जन के हितार्थ प्रभु ने प्रथम धर्म-देशना दी। इस देशना से द्वादश कोटि के प्राणियों को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। अनेक व्यक्तियों को तीव्र प्रेरणा मिली और उन्होंने संयम स्वीकार किया और साधक जीवन बिताने लगे। अनेक

गृहस्थों ने भी गृहस्थी का त्याग किये बिना भी धर्म की साधना प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और तेरहवें तीर्थंकर बने।

धर्म-प्रभाव

केवली बनकर भगवान विमलनाथ ने पुनः जनपद में विहार आरम्भ कर दिया। अपनी प्रभावपूर्ण देशनाओं द्वारा असंख्य जनों के उद्धार के महान् अभियान में प्रभु को व्यापक सफलता की उपलब्धि हुई।

विचरण करते-करते प्रभु एक बार द्वारिका पहुँचे। समवसरण का आयोजन हुआ। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर तत्कालीन द्वारिका नरेश स्वयंभू वासुदेव अत्यन्त हर्षित हुआ और सन्देशवाहक को साढ़े बारह करोड़ रौप्य मुद्राओं से पुरस्कृत किया। भगवान की अमृत वाणी का श्रवण करने राजा सपरिवार आया और भगवान की चरण वन्दना की। स्वयंभू वासुदेव ने भगवान के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया कि प्रतिवासुदेव मेरक राजा के प्रति मेरे मन में द्वेष का भाव क्यों था? मैं उसके पराक्रम को सहन कर ही नहीं सका और प्रचण्ड युद्ध में उसे मौत के घाट उतार कर ही मैं अपने मन को शान्ति दे सका—इसका क्या कारण है? इस द्वेष का आधार क्या था? प्रभु, कृपा पूर्वक मुझे इसकी जानकारी प्रदान कीजिये।

भगवान ने अपनी शीतल वाणी में इसका कारण प्रकट करते हुए कहा कि तुम दोनों में यह कट्टर शत्रुता का भाव पूर्वजन्म से था। भगवान ने सारी स्थिति भी स्पष्ट की—

किसी नगर में धनमित्र नामक राजा राज्य करता था, जिसका एक परम मित्र था—बलि। बलि भी कभी एक छोटे से राज्य का स्वामी था, किन्तु वह राज्य उसके हाथ से निकल चुका था। धनमित्र सहृदय शासक था। उसने विपन्नता की घड़ी में बलि का साथ न छोड़ा और सम्मानपूर्वक अपने राज्य में उसे आश्रय दिया। यह बलि बड़ा प्रपंची और कुत्सित मनोवृत्ति का था। जब दोनों मित्र जुआ खेल रहे थे तो एक कोमल स्थिति पर लाकर बलि ने धनमित्र को उत्तेजित कर उसका सारा राज्य दाँव पर लगवा दिया। परिणाम तो निश्चित था ही। धनमित्र के हाथ से उसका राज्य निकल गया।

धनमित्र को उसके द्वारा किये गये उपकार का मूल्य जो मिला, उससे वह तिलमिला उठा। उसका मन प्रतिशोध की अग्नि में धधकने लगा। दुर्योग से किन्हीं आचार्य के उपदेश से प्रेरित होकर वह संयमी बन गया, भिक्षु बन गया, किन्तु प्रतिशोध की वह आग अब भी ज्यों की त्यों थी। उसने संकल्प किया कि मेरी साधना का *तनिक भी फल यदि मिला, तो मैं अगले जन्म में बलि से बदला अवश्य लूँगा।*

इधर बलि ने भी तपस्याएँ कीं। फलतः दोनों को स्वर्ग की प्राप्ति हुई और अवधि पूर्ण होने पर तुम्हारे रूप में धनमित्र का और मेरक के रूप में बलि का जीव

इस लोक में आया। यहाँ तुम्हारे रूप में धनमित्र के जीव ने बलि से प्रतिशोध लेकर अपना संकल्प पूरा किया है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् भगवान ने समता, शान्ति और क्षमा का उपदेश दिया। प्रभु की अमोघ वाणी से प्रभावित होकर वासुदेव ने वैमनस्य की मानसिक ग्रन्थि को खोल दिया। उसका मन उज्ज्वल भावों से ओत-प्रोत हो गया और उसने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया। वासुदेव के भ्राता बलदेव भद्र ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

परिनिर्वाण

व्यापक रूप से मानव-कल्याण के शुभ कर्म में व्यस्त रहते हुए जब भगवान को अपना अन्तिम समय समीप ही अनुभव होने लगा, तो उन्होंने सम्मेत शिखर पर पधार कर एक माह का अनशन आरम्भ कर दिया और शेष ४ अघाति-कर्मों का विनाश करने में सफल हो गये। तब भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये, उन्हें निर्वाण पद प्राप्त हो गया। वह आषाढ़ कृष्णा सप्तमी का दिन और पुष्य नक्षत्र का शुभ योग था। भगवान ने ६० लाख वर्ष का आयुष्य भोगा था।

धर्म-परिवार

गणधर	५६
केवली	५,५००
मन:पर्यवज्ञानी	५,५००
चौदह पूर्वधारी	१,१००
अवधिज्ञानी	४,८००
वैक्रियलब्धिधारी	९,०००
वादी	३,२००
साधु	६८,०००
साध्वी	१,००,८००
श्रावक	२,०८,०००
श्राविका	४,२४,०००

□□

14

भगवान अनन्तनाथ

(चिन्ह—बाज)

भगवान विमलनाथ के पश्चात् १४वें तीर्थंकर भगवान अनन्तनाथ हुए हैं।

"हे स्याद्वादियों के अधिपति अनन्त जिन ! आप पाप, मोह, वैर और अन्त से रहित हैं। लोभवर्जित, दम्भरहित तथा प्रशस्त तर्क वाले भी हैं। आपकी सेवा करने वालों को आप पापरहित और सच्चरित्र बना देते हैं।"

पूर्वजन्म

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वी भाग में ऐरावत क्षेत्र था जिसके अन्तर्गत अरिष्टा नाम की एक नगरी थी। पद्मरथ महाराजा यहीं के नरेश थे जो भगवान अनन्तनाथ के जीव के पूर्व धारक थे। राजा पद्मरथ शूरवीरों और पराक्रमियों की पंक्ति में अग्रगण्य समझे जाते थे और उन्होंने अनेक राजाओं को परास्त कर अपने अधीन बना रखा था। अपार वैभव और विशाल राज्य-सत्ता के वे स्वामी थे, किन्तु उनका मन इन विषयों में कभी भी रमा नहीं था। मोक्ष की तुलना में ये उपलब्धियाँ उन्हें तुच्छ प्रतीत होती थीं। वे उसी सच्ची सम्पदा को प्राप्त करने के प्रबल अभिलाषी थे। अतः एक दिन इन समस्त सांसारिक विषयों को त्याग कर पद्मरथ वीतरागी हो गये और गुरु चित्तरक्ष के पास संयम ग्रहण कर प्रव्रजित हो गये। संयम, अर्हन्त-सिद्ध की भक्ति व अन्य साधनाओं के परिणाम-रूप में उन्होंने तीर्थंकर नाम-कर्म अर्जित कर लिया। इन्होंने शुभ ध्यानावस्था में देह-त्याग किया और पुष्पोत्तर विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव बने।

जन्म-वंश

सरयू नदी के तट पर पवित्र अयोध्या नगरी स्थित है। इक्ष्वाकुवंशीय राजा सिंहसेन यहाँ शासन करते थे। महाराज सिंहसेन की धर्मपत्नी का नाम रानी सुयशा था जो वस्तुतः पितृकुल और पति-कुल दोनों के यश की अभिवृद्धि करती थी। इसी राज-दम्पति की सन्तान भगवान अनन्तनाथ थे। श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र में पद्मनाभ के जीव का च्यवन हुआ और वह स्वर्ग से प्रस्थान कर माता सुयशादेवी के गर्भ में समाया। अन्य तीर्थंकरों की माताओं की ही भाँति रानी सुयशादेवी ने भी

१४ दिव्यस्वप्नों का दर्शन किया, जिससे यह निश्चय हो गया कि रानी किसी महापुरुष की जननी बनेगी। फलतः उसके हृदय मे ही नहीं; सारे राज-परिवार में उल्लास की लहर दौड़ गयी।

रानी सुयशादेवी ने यथासमय, वैशाख कृष्णा त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में एक अत्यन्त तेजवान पुत्र को जन्म दिया। बालक के जन्म से सर्वत्र प्रसन्नता का ज्वार-सा आ गया। सभी ६३ इन्द्रों ने मिलकर सुमेरु पर्वत पर पांडुक वन में भगवान का जन्म-कल्याण मनाया। नवजात कुमार को भी देवतागण समारोह स्थल पर ले गये और क्रमशः सभी इन्द्रों ने उसे स्नान कराया। उत्सव समाप्ति पर बालक को पुनः माता के समीप लिटाकर देवतागण चले गये। १० दिन तक सारे राज्य मे आनन्दोत्सव होते रहे। बालक जब गर्भ में था, तब सशक्त और विशाल सेना ने अयोध्या नगरी पर आक्रमण किया था और राजा सिंहसेन ने उसे परास्त कर दिया था। अतः शिशु का नाम अनन्तकुमार रखा गया।

गृहस्थ-जीवन

सर्व प्रकार से सुखद और स्नेहपूर्ण वातावरण में युवराज अनन्तकुमार का लालन-पालन हुआ। बालक की रूप माधुरी पर मुग्ध देवतागण भी मानव रूप धारण कर इनकी सेवा मे रहे। आयु-वृद्धि के साथ-साथ कुमार शनैः-शनैः यौवन की ओर अग्रसर होने लगे। युवा हो जाने पर कुमार अत्यन्त तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी हो गये थे। माता-पिता के अत्यन्ताग्रह से कुमार ने योग्य व सुन्दर नृप-कन्याओं के साथ पाणि-ग्रहण भी किया और कुछ काल सुखी दाम्पत्य-जीवन भी व्यतीत किया। साढ़े सात लाख वर्ष की आयु प्राप्त हो जाने पर पिता द्वारा उन्हें राज्यारूढ़ किया गया। तत्पश्चात् १५ लाख वर्ष तक महाराज अनन्तकुमार ने प्रजापालन का दायित्व निभाया।

दीक्षाग्रहण व केवलज्ञान

महाराज अनन्तकुमार की आयु जब साढ़े बाईस लाख वर्ष की हो गयी तब उनके मन में विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण कर लेने का भाव प्रबल होने लगा। उसी समय लोकांतिक देवों ने भी उनसे तीर्थ-स्थापना की प्रार्थनाएं कीं। अनन्तकुमार ने राज्याधिकार का त्याग कर दिया और वर्षीदान में प्रवृत्त हो गये। मुक्त-हस्तता और उदारता के साथ वर्ष-पर्यन्त वे याचकों को दान देते रहे। किसी भी याचक को उनके द्वार से निराश नहीं लौटना पड़ा।

गृहत्याग करके भगवान सागरदत्ता शिविका में आरूढ़ होकर नगर-बाह्य स्थित सहस्राम्रवन में पधारे। वहां वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को भगवान ने स्वयं ही दीक्षा ग्रहण करली। उन्हें इस हेतु किसी गुरु की अपेक्षा का अनुभव ही नहीं हुआ। दीक्षित होते ही प्रभु मनःपर्यवज्ञानी हो गये थे। दूसरे

दिन वर्द्धमान नगराधिपति महाराज विजय के आतिथ्य में भगवान का दीक्षोपरांत प्रथम पारणा हुआ।

तीन वर्ष तक भगवान अनंतनाथ ने नाना भाँति के कठोर तप व साधनाएँ कीं और जनपद में सतत् रूप से विहार करते रहे। अन्ततः उनका आगमन अयोध्या नगरी के उसी सहस्राम्रवन में हुआ, यहाँ अशोक वृक्ष के नीचे वे ध्यानस्थ हो गये। यह वैशाख कृष्णा चतुर्दशी का दिन था जब रेवती नक्षत्र में प्रभु ने ४ घातिक कर्मों का क्षय कर अक्षय केवलज्ञान-केवलदर्शन की दुर्लभ उपलब्धि को सुलभ कर लिया। अब भगवान केवली हो गये थे।

धर्मदेशना

देवताओं ने भगवान अनन्तनाथ द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति से अवगत होकर अपार हर्ष व्यक्त किया और केवलज्ञानोत्सव मनाया। समवसरण की रचना हुई; जिसमें भगवान की देशना से प्रतिबोधित होने को द्वादश प्रकार की परिषदें एकत्रित हुईं। चतुर्विध संघ स्थापित कर भगवान भाव तीर्थंकर कहलाये।

तत्कालीन वासुदेव पुरुषोत्तम द्वारिका का नरेश था। भगवान समवसरण के पश्चात् विहार करते हुए जब द्वारिका पधारे, तो उनके नगर के उद्यान में पहुँचने की सूचना पाकर वासुदेव पुरुषोत्तम ने तत्काल वहीं खड़े होकर प्रभु को समक्ति प्रणाम किया और तत्पश्चात अपने अग्रज सुप्रभ बलदेव के साथ भगवान की वन्दनार्थ उद्यान में आया। प्रभु ने अपनी देशना में समता और क्षमा का महत्त्व बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकट किया था, जिसके श्रवण से वासुदेव के चित्त को अपूर्व शांति मिली। उसका मन ऐसी विशिष्ट दशा को प्राप्त हो गया था कि उसने सम्यक्त्व अंगीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी कठोरता और क्रूरता नष्ट हो गयी और शासन-कार्य में सौजन्य आगया, मृदुलता आ गयी। बलदेव सुप्रभ ने प्रथमतः श्रावकधर्म स्वीकार किया और अन्त में विरक्त होकर मुनिधर्म अंगीकार किया और मुक्ति-पद की प्राप्ति की। यह प्रसंग एक उदाहरण मात्र है। भगवान सुविशाल क्षेत्र में व्यापक रूप से विचरणशील रहकर जन-जन के उद्धार में ही व्यस्त रहे।

परिनिर्वाण

अन्तिम समय में भगवान अनन्तनाथ ने १००० साधुओं के साथ १ मास का अनशन आरंभ किया। चैत्र शुक्ला पंचमी को रेवती नक्षत्र के योग में समस्त कर्मों का क्षय कर भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी।

धर्म-परिवार

गणधर	५०
केवली	५,०००

मन:पर्यवज्ञानी	४,५००
चौदह पूर्वधारी	६००
अवधिज्ञानी	४,३००
वैक्रियलब्धिधारी	८,०००
वादी	३,२००
साधु	६६,०००
साध्वी	६२,०००
श्रावक	२,०६,०००
श्राविका	४,१४,०००

□□

15

भगवान धर्मनाथ

(चिन्ह—वज्र)

भगवान धर्मनाथ स्वामी पन्द्रहवें तीर्थंकर हुए हैं।

"हे भानुसुत धर्म जिनेश्वर! आप प्रधान धर्म से सम्पन्न तथा माया रहित हैं। आपका नाम-स्मरण ही प्राणियों को अत्यन्त मंगल देने वाला है। आपकी प्रभा मेरु पर्वत के समान देदीप्यमान है, उत्तम लक्ष्मी से सम्पन्न है। अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ।"

पूर्वजन्म

धातकीखण्ड का पूर्व विदेह क्षेत्र—उसमें बसा हुआ भद्दिलपुर राज्य। कभी इस राज्य के नरेश थे—महाराज दृढ़रथ जो शूर-वीर और महान् पराक्रमी थे। अपनी शक्ति से समीप के समस्त राज्यों को अपने अधीन कर महाराजा ने विशाल साम्राज्य की स्थापना करली थी। महाराज दृढ़रथ की अन्य और अद्वितीय विशेषता थी—'*धर्म-प्रियता*'। परम शक्तिवान होते हुए भी वे धर्म की आराधना में कभी पीछे नहीं रहते थे। संसार के विषयों में रहते हुए भी वे उनमें लिप्त नहीं थे। सांसारिक ऐश्वर्य एवं सुखों के असारता के अनुभव ने उन्हें शाश्वत आनन्द की खोज के लिए प्रेरित किया और एक दिन समस्त विषयों और वैभव को त्यागकर उन्होंने चारित्र-धर्म स्वीकार कर लिया। इसके लिए उन्होंने विमलवाहन मुनि का शरणाश्रय प्राप्त किया था। दृढ़ साधना एवं कठोर तप के परिणामस्वरूप उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया था और आयुष्य पूर्ण होने पर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म-वंश

वैजयन्त विमान में सुखोपभोग की अवधि समाप्त होने पर मुनि दृढ़रथ के जीव ने मानवयोनि में देहधारण की। रत्नपुर के शूरवीर नरेश महाराजा भानु इनके पिता और रानी सुव्रता इनकी माता थी। वैशाख शुक्ला सप्तमी को पुष्य नक्षत्र के शुभयोग में माता सुव्रता के गर्भ में मुनि दृढ़रथ का जीव स्थिर हुआ था। गर्भधारण की रात्रि में ही रानी ने 14 दिव्यस्वप्नों का दर्शन किया जिनके शुभकारी प्रभाव को जानकर माता अत्यन्त हर्षित हुई। यथासमय गर्भावधि समाप्त हुई और माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र की मांगलिक घड़ी में माता ने एक तेजस्वी पुत्र को

जन्म दिया। राज-परिवार और राज्य की समस्त प्रजा ने, यहाँ तक कि देवताओं ने भी हर्षोल्लास के साथ कुमार का जन्मोत्सव मनाया।

जन्म के बारहवें दिन नामकरण संस्कार सम्पन्न हुआ। कुमार जब गर्भ में थे तो माता सुव्रता रानी के मन में उत्तम कोटि की धर्म साधना का दोहद हुआ था। इस कारण पिता ने कुमार का सर्वोपयुक्त नाम रखा—धर्मनाथ।

गृहस्थ-जीवन

अत्यन्त सुखद और वैभव के वातावरण मे कुमार का बाल्य-जीवन देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए व्यतीत हुआ। जीवन की यात्रा करते-करते वे जब यौवन की दहलीज पर पहुँचे, तब तक कुमार का भव्य व्यक्तित्व अनेक गुणों से सम्पन्न हो गया था। उनकी देह ४५ धनुष ऊँची और अग-प्रत्यंग कान्तिमय सौन्दर्य से विभूषित हो उठा था। भोग कर्मों और माता-पिता का आदेश-पालन करने के लिए युवराज धर्मनाथ ने विवाह किया और सुखी विवाहित जीवन भी व्यतीत किया।

जब भगवान (कुमार) धर्मनाथ की आयु ढाई लाख वर्ष की हुई, तो पिता महाराजा भानु ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। शासनारूढ़ होकर महाराजा धर्मनाथ ने न्यायपूर्वक और वात्सल्य-भाव से प्रजा का पालन और रक्षण किया। ५ लाख वर्ष तक इस प्रकार राज्य कर चुकने पर उनके भोगकर्म अशेष हो गये। ऐसी स्थिति में उनके मन में विरक्ति का अंकुरण भी स्वाभाविक ही था। उन्हे अपने जीवन और जगत् के प्राणियो का मंगल करने की प्रेरणा हुई। उनके मन मे धर्मतीर्थ-प्रवर्तन की उत्कट कामना जागी।

दीक्षाग्रहण व केवलज्ञान

ब्रह्मलोक से लोकांतिक देवों का आगमन हुआ और उन्होंने भगवान से तीर्थ स्थापना की प्रार्थना की। इससे महाराजा धर्मनाथ का अपनी उचित पात्रता और उपयुक्त समय आ जाने का भाव और भी पुष्ट हो गया। उन्होने दीक्षा-ग्रहण के अपने संकल्प को अब व्यक्त कर दिया और वे वर्षीदान मे प्रवृत्त हो गये। वर्ष-पर्यन्त उदारता के साथ उन्होंने दान-कर्म सम्पन्न किया।

इसके पश्चात् भगवान का निष्क्रमणोत्सव आयोजित हुआ। स्वय इन्द्र तथा अन्य देवतागण इस आयोजन के लिए उपस्थित हुए। महाराज धर्मनाथ का दीक्षाभिषेक हुआ और तब उन्होंने गृह त्याग कर निष्क्रमण किया। नगर के बाहर प्रकांचन उद्यान था। भगवान शिविकारूढ़ होकर राजभवन से उस उद्यान में पहुँचे। वह माघ शुक्ला त्रयोदशी का पवित्र दिन था, जब भगवान ने पुष्य नक्षत्र में, बेले की तपस्या में दीक्षा ग्रहण करली। अगले दिन सोमनस नगर के नरेश महाराजा धर्मसिंह के यहाँ परमान्न से प्रभु का पारणा हुआ। देवताओं ने ५ दिव्यों का वर्षण किया और दान की महिमा प्रकट की। पारणा के पश्चात् प्रभु ने जनपद मे विहार किया।

अपने साधक जीवन में भगवान ने कठोर तप किये। छद्मस्थचर्या में वे २ वर्ष तक अनेक परीषहों को समभाव के साथ सहन करते हुए विचरण करते रहे और लौटकर अपने दीक्षा-स्थल प्रकांचन उद्यान में आये। यहाँ दधिपर्ण वृक्ष के नीचे वे ध्यान में लीन हो गये। शुक्लध्यान में लगे भगवान ने क्षपक श्रेणी में पहुँचकर ज्ञानावरणादि घातिककर्मों का क्षय कर लिया। यह शुभ दिवस था पौष शुक्ला पूर्णिमा का, जब भगवान धर्मनाथ स्वामी ने पुष्य नक्षत्र में ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। अब केवली प्रभु धर्मनाथ अरिहन्त बन गये थे।

प्रथम देशना

भगवान के केवलज्ञान प्राप्त कर लेने से जगत् भर में प्रसन्नता का आलोक व्याप्त हो गया। देव व मनुष्यों के विशाल समुदाय को भगवान ने धर्मदेशना से प्रबुद्ध किया। अपनी इस प्रथम देशना में भगवान ने आन्तरिक विकार-शत्रुओं से होने वाली हानियों से मनुष्यों को सचेत किया और प्रेरित किया कि जागतिक शत्रुओं से द्वन्द्व छोड़कर इन भीतरी शत्रुओं से संघर्ष करो। इन्हें परास्त करने पर ही सच्चे सुख और शान्ति का लाभ होगा। सांसारिक विषयों के अधीन रहकर मनुष्यों को अपने आत्मा की हानि नहीं करनी चाहिए। मानव अज्ञानवश भौतिक पदार्थों की साध में लगा रहता है, जो वास्तव में नश्वर हैं और दुःख के कारण है। मानव-जीवन इन आसक्तियों के लिए नहीं है। इनसे विरक्त होकर सभी को आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये, जो परमानन्ददायक है।

प्रभु की मर्मस्पर्शिनी वाणी से हजारों नर-नारियों की सोयी आत्माएँ सजग हो गयीं और उन्होंने चारित्रधर्म स्वीकार किया। प्रभु ने चतुर्विध संघ स्थापित किया और वे भाव तीर्थंकर कहलाए।

प्रभावशीलता

केवली प्रभु ने लगभग ढाई लाख वर्षों की सुदीर्घ अवधि सतत विचरणशील रह कर व्यतीत की और असंख्य नर-नारियों को उद्बोधित कर उन्हें आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगाया। भगवान के इस व्यापक अभियान का एक स्मरणीय अंश पुरुषसिंह वासुदेव के उद्धार से संबंधित है।

भगवान विचरण करते-करते एक समय अश्वपुर पहुँचे और वहाँ के उद्यान में विश्राम करने लगे। तत्कालीन वासुदेव पुरुषसिंह इस राज्य का स्वामी था। इस समय का बलदेव सुदर्शन था। उद्यान कर्मचारी ने जब भगवान के आगमन का शुभ सन्देश वासुदेव पुरुषसिंह को दिया, तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। आदर भाव के साथ उसने सिंहासन से उठकर वहीं से प्रभु को नमन किया और सन्देश वाहक को पुरस्कृत किया। पुरुषसिंह अपने भ्राता बलदेव सुदर्शन के साथ प्रभु की वन्दना और दर्शन हेतु उद्यान में आया। भगवान के चरणों में श्रद्धा के पुष्प समर्पित किये। भगवान की

दिव्य देशना से वासुदेव पुरुषसिंह को जागृति आयी और उसने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार बलदेव सुदर्शन ने श्रावकधर्म ग्रहण किया।

परिनिर्वाण

भगवान धर्मनाथ अपना निर्वाण-काल समीप अनुभव कर सम्मेतशिखर पहुंचे और ८०० मुनियों के साथ उन्होंने अनशन व्रत आरम्भ कर दिया। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पुष्य नक्षत्र में समस्त कर्मों का क्षय कर भगवान ने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन गये। भगवान ने कुल दस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया था।

धर्म-परिवार

गणधर	४३
केवली	४,५००
मनःपर्यवज्ञानी	४,५००
अवधिज्ञानी	३,६००
चौदह पूर्वधारी	९००
वैक्रियलब्धिधारी	७,०००
वादी	२,८००
साधु	६४,०००
साध्वी	६२,४००
श्रावक	२,४०,०००
श्राविका	४.१३,०००

□□

16

भगवान शान्तिनाथ

(चिन्ह—मृग)

भगवान धर्मनाथ स्वामी के अनन्तर भगवान शान्तिनाथ स्वामी १६वें तीर्थंकर हुए हैं।

"कामदेव के स्वरूप को भी अपने शरीर की शोभा से तिरस्कृत करने वाले, हे शान्तिनाथ प्रभु ! इन्द्रों का समूह निरन्तर आपकी सेवा-स्तुति करता रहता है, क्योंकि आप भव्य प्राणियों को रोगरहित करने व परमशान्ति देने वाले हैं।"

पूर्वजन्म

भगवान शान्तिनाथ स्वामी का समग्र जीवन सर्वजनहिताय और अत्यन्त पवित्र था। उनकी तप-साधना की उपलब्धियाँ आत्म-कल्याणपरक ही नहीं, अपितु व्यापक लोकहितकारिणी थी। प्रभु के इस जीवन की इन विशेषताओं का मूल जन्म-जन्मान्तरों के सुसंस्कारों मे निहित था। अपने अनेक पूर्वभवों में आपने तीर्थंकर का नामकर्म उपार्जित किया था।

प्राचीन काल में पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी। उस नगरी में घनरथ नाम का राजा राज्य करता था जिसके मेघरथ एवं दृढ़रथ—ये दो पुत्र थे। वृद्धावस्था में राजा घनरथ ने ज्येष्ठ कुमार मेघरथ का राज्याभिषेक कर राज्य का समस्त भार उसे सौंप दिया। नृपति के रूप में मेघरथ ने स्वयं को बड़ा न्यायी, योग्य और कुशल सिद्ध किया। स्नेह के साथ प्रजा का पालन करना उसकी विशेषता थी। वह बड़ा शूर-वीर, बलवान और साहसी तो था ही, उसके बलिष्ठ तन में अतिशय कोमल मन का ही निवास था। वह दयालु स्वभाव का और धर्माचारी था। व्रत-उपवास, पौषध, नित्यनियमादि में वह कभी प्रमाद नहीं करता था।

राजसी वैभव और अतुलनीय सुखोपभोग का अधिकारी होते हुए भी उसका मन इन विषयों में कभी नहीं रमा। तटस्थतापूर्वक वह अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने मे ही लगा रहता था। वह सर्वथा आत्मानुशासित था और संयमित जीवन का अभ्यस्त था। आकर्षण और उत्तेजना से वह सदा अप्रभावित रहा करता था। इसी पुण्यात्मा का जीव आगामी जन्म में भगवान शान्तिनाथ के रूप में अवतरित हुआ था। महाराज मेघरथ की करुणा भावना की महानता का परिचय एक प्रसंग से मिलता है—

राजा मेघरथ चिन्तन-मग्न बैठा था। सहसा एक निरीह पक्षी कबूतर, जो भय-

कम्पित था उसकी गोद में आ गिरा। राजा का ध्यान भंग हो गया। उसने देखा कि कबूतर किसी भयंकर विपत्ति मे ग्रस्त है, बेचैन है और बुरी तरह हाँफ रहा है। करुणा के साथ राजा ने अपने कोमल करों से उसे स्पर्श कर आश्वस्त किया। भयातुर कबूतर राजा से प्राण-रक्षा की प्रार्थना करने लगा। राजा ने उसे अभयदान देकर कहा कि 'अब तुम मेरे आश्रय में आ गये हो, कोई भी तुम्हारी हानि नही कर सकेगा, स्वस्थ हो जाओ।' इस रक्षण से कबूतर तनिक निर्भीकता का अनुभव करने ही लगा था कि एक बाज वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसे देखकर वह फिर अधीर हो गया और कातरभाव से राजा से वह विनय करने लगा कि 'यही बाज मेरे पीछे पड़ा हुआ है, यह मेरे प्राणों का ग्राहक बना हुआ है—मेरी रक्षा कीजिए·· मेरी रक्षा कीजिए।'

तुरन्त कठोर स्वर मे बाज ने राजा से कहा कि 'कबूतर को छोड़ दीजिये—इस पर मेरा अधिकार है। यही मेरा खाद्य है। मेरा आहार शीघ्र ही मुझे दो, मैं भूखा हूँ।'

राजा ने उसे बोध दिया कि 'उदरपूर्ति के लिए जीव-हिंसा घोर पाप है—तुम इस पाप में न पड़ो। फिर इस पक्षी को तो मैंने अपनी शरण में ले लिया है। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। तुम भी पाप में न पड़ो और मुझे भी मेरा कर्त्तव्य पूरा करने दो। क्यों व्यर्थ ही इस भोले पक्षी को त्रस्त किये हुए हो।' राजा के इस उपदेश का बाज पर कोई प्रभाव होने ही क्यों लगा ? उसने कुतर्कों का आश्रय लेते हुए कहा कि 'मैं भूखों मर रहा हूँ। इसका क्या होगा ? क्या तुम्हें इसका पाप न चढ़ेगा ?' राजा ने फिर भी कबूतर को छोड़ देने से इनकार करते हुए कहा कि 'मेरी पाकशाला में विविध व्यंजन तैयार हैं। चलो मेरे साथ और पेट भर कर आहार करो, अपनी भूख को शान्त कर लो।'

इस पर बाज ने कहा कि 'मैं तो मांसाहारी हूँ। तुम्हारी पाकशाला के भोज्य पदार्थ मेरे लिए अखाद्य हैं। मुझे मेरा कबूतर लौटा दो, बहुत भूख लगी है।' राजा बड़े असमंजस में पड़ा। इसके लिए मांस की व्यवस्था कहाँ से करे ? जीव-हिंसा तो वह कर ही नही सकता था और बाज ताजा मांस की माँग कर रहा था।

बाज की भूख शान्त करने के लिए राजा ने अनुपम उत्सर्ग किया। उसने एक बड़ी तराजू मँगायी। उसके एक पलड़े में कबूतर को बैठाया और दूसरे पलड़े मे वह अपने शरीर से मांस काट-काटकर रखने लगा। वह लोथ के लोथ अपने ही शरीर का मांस रखता जाता था, किन्तु वह कबूतर के भार से कम ही तुल रहा था। यहाँ तक कि राजा ने अपने शरीर का आधा मांस तराजू पर चढ़ा दिया, तथापि कबूतर भारी पड़ता रहा। उसका पलड़ा भूमि से ऊपर ही नहीं उठता था। राजा का शरीर क्षत-विक्षत और लहू-लुहान हो गया था। उसका धैर्य अब भी बना हुआ था, किन्तु शक्ति चुकती जा रही थी। उसने अपने मांस को कबूतर के भार के बराबर तोलकर बाज को खिलाना चाहा था, किन्तु उसका मांस जब लगातार कम ही पड़ता रहा, तो वह उठकर स्वयं ही पलड़े में बैठने को तत्पर हुआ। उनके लिए यह प्रसन्नता का विषय था कि उसकी नश्वर देह किसी के प्राणों की रक्षा के लिए प्रयुक्त हो।

उसी समय एक देव वहाँ पर प्रकट हुआ और दैन्यपूर्वक क्षमा याचना करने लगा। तुरन्त सारा दृश्य ही परिवर्तित हो गया। न तो बाज और न ही कबूतर वहाँ था। राजा भी स्वस्थ-तन हो गया था। उसकी देह से काटा गया माँस भी दृष्टिगोचर न होता था। तब उस देव ने इस सारे प्रसंग का रहस्य प्रकट किया—

देव ने कहा कि स्वर्ग में देव-सभा मध्य इन्द्र ने आपकी शरणागत वत्सलता और करुणा-भावना की अतिशय प्रशंसा की थी। मैं सहज विश्वासी नहीं हूँ। मैंने देवेन्द्र के कथन में अतिशयोक्ति का अनुभव कर उसमें सन्देह किया। मैं स्वयं आपकी परीक्षा लेकर ही विश्वास करना चाहता था अतः मैं स्वर्ग से चल पड़ा मार्ग में बाज पक्षी मिल गया। मैंने ही उसके शरीर मे प्रवेश करके यह सब कुछ किया। नरेश ! आप धन्य हैं और धन्य है आपकी धीर-वीरता, करुणा और धर्मपालन की भावना। जैसा मैंने आपके विषय में सुना था, आज आपको वैसा ही पाया है।

अवधिज्ञान की सहायता से सब कुछ ज्ञात कर महाराज मेघरथ ने बताया कि एक श्रेष्ठी के दो पुत्र व्यवसायार्थ विदेश गये हुए थे। किसी रत्न को लेकर दोनों में कलह हुआ और वह भीषण संघर्ष में परिवर्तित हो गया जिसमें दोनों ही मारे गये। उस जन्म का वैर होने के कारण आगामी जन्म में उनके जीव कबूतर और बाज के रूप में जन्मे। उस देव के पूर्वभव के विषय मे भी महाराज ने बताया कि वह दमतारि नाम का प्रतिवासुदेव था और मैं अपने एक पूर्वभव में अपराजित बलदेव। उस भव में बन्धु दृढ़रथ वासुदेव था। दमतारि की कन्या कनकश्री के लिए उस भव में हम दोनों भाइयों ने दमतारि से युद्ध किया था और वह हमारे हाथों मारा गया। शत्रुता का संस्कार लिए हुए उसकी आत्मा अनेक भवो को पार करती हुई एक बार तपस्वी बनी और तप के परिणामस्वरूप वह देव बना। पूर्वभव के वैमनस्य के कारण ही इस भव मे मेरी प्रशंसा जब ईशानेन्द्र ने की, तो वह उसके लिए असह्य हो गयी थी।

देव तो अदृश्य हो गया था। बाज और कबूतर ने अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुना तो उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे महाराज मेघरथ से विनयपूर्वक निवेदन करने लगे कि मानव-जीवन तो हमने व्यर्थ खो ही दिया था, यह भव भी हम पाप संचय में ही लगा रहे हैं। दया करके अब भी हमें मुक्ति का साधन बताइये। मेघरथ ने उन्हें अनशन व्रत का निर्देश दिया और इस साधन द्वारा उन्हें देवयोनि प्राप्त हो गयी।

एक और भी प्रसंग उल्लेखनीय है जो साधना में उनकी अडिगता का परिचय देता है। वृत्तान्त इस प्रकार है कि एक समय मेघरथ कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानलीन बैठे थे और स्वर्ग मे ईशानेन्द्र ने उन्हें प्रणाम किया। चकित होकर इन्द्राणियों ने यह जानना चाहा कि यह प्रणम्य कौन है, जिसे समस्त देवो द्वारा वन्दनीय इन्द्र भी आदर देता हो। ईशानेन्द्र ने तब मेघरथ का परिचय देते हुए कहा कि वे १६वें तीर्थंकर होंगे—उनका तप अचल है। कोई शक्ति उन्हें डिगा नहीं सकती। यह प्रशंसा इन्द्रा-

णियों के लिए भला कैसे सहन होती ? उन्होंने मेघरथ को तप-भ्रष्ट करने का निश्चय किया और वे स्वयं ही इस लोक मे आईं और उन अतिरूपवतियों के हाव-भाव, आंगिक चेष्टाओं, नृत्य-गान आदि अनेक उपायों से मेघरथ को विचलित करने के प्रयास किये। अन्ततः उन्हें अपने प्रयत्नों मे विफल ही होना पड़ा। उनका सम्मोहक माया-जाल व्यर्थ सिद्ध हुआ।

इस प्रसंग ने मेघरथ के विरक्तिभाव को प्रबलतर कर दिया। सारी घटना सुनकर रानी प्रियमित्रा ने भी संयम स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। भगवान घनरथ का संयोग से उसी नगर में आगमन हुआ और मेघरथ ने उनके पास दीक्षाग्रहण करली। मुनि मेघरथ ने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया और शरीर त्याग कर वे सर्वार्थसिद्धि महाविमान में देव बने।

जन्म-वंश

कुरुदेश में हस्तिनापुर नाम का एक नगर था, जहाँ महाराज विश्वसेन शासन करते थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम अचिरा देवी था। सर्वार्थसिद्धि विमान में सुखोपभोग की अवधि समाप्त हो जाने पर मेघरथ के जीव ने वहाँ से च्यवन किया और रानी अचिरा देवी के गर्भ में स्थित हुआ। वह शुभ तिथि थी—भाद्रपद कृष्णा सप्तमी और वह श्रेष्ठ वेला थी भरणी नक्षत्र की। रानी ने गर्भ-धारण की रात्रि में ही १४ दिव्य स्वप्न देखे और इसके फल से अवगत होकर कि उसकी कोख से तीर्थंकर का जन्म होगा—वह बड़ी ही उल्लसित हुई।

ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र मे ही रानी अचिरा ने एक तेजवान पुत्र को जन्म दिया। बालक कुन्दनवर्णी और १००८ गुणों में सम्पन्न था। भगवान का जन्म होते ही सभी लोकों में तीर्थंकर जन्म-सूचक आलोक फैल गया। इन्द्र, देवों और दिक्कुमारियों ने उत्साह के साथ जन्म-कल्याण महोत्सव मनाया। सारे राज्य भर में प्रसन्नता छा गयी और अनेक उत्सवों का आयोजन हुआ।

उस काल मे कुरू देश मे भयानक महामारी फैली हुई थी। नित्य-प्रति अनेक व्यक्ति रोग के शिकार हो रहे थे। अनेक-अनेक उपचार किये गये, पर महामारी शान्त नहीं हो रही थी। भगवान के गर्भस्थ होते ही उस उपद्रव का वेग कम हुआ। महारानी ने राजभवन के ऊँचे स्थल पर चढ़कर सब ओर दृष्टि डाली। जिस-जिस दिशा में रानी ने दृष्टिपात किया, वहाँ-वहाँ रोग शांत होता गया और इस प्रकार सारे देश को भयंकर कष्ट से मुक्ति मिल गयी। भगवान के इस प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए उनका नाम शान्तिनाथ रखा गया।

गृहस्थ-जीवन—चक्रवर्ती पद

राजसी वैभव और स्नेहसिक्त वातावरण में कुमार शान्तिनाथ का लालन-पालन होने लगा। अनेक बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ करते हुए वे शारीरिक और मानसिक रूप से विकसित होते रहे और युवा होने पर वे क्षत्रियोचित शौर्य, पराक्रम, साहस और

किया। ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में समस्त कर्मों का नाश कर भगवान ने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया और वे सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	६०
केवली	४,३००
मनःपर्यवज्ञानी	४,०००
अवधिज्ञानी	३,०००
चौदह पूर्वधारी	८००
वैक्रियलब्धिधारी	६,०००
वादी	२,४००
साधु	६२,०००
साध्वी	६१,६००
श्रावक	२,६०,०००
श्राविका	३,६३,०००

□□

17

भगवान श्री कुन्थुनाथ

(चिन्ह—छाग)

शान्ति के स्थान और नय रूपी सुन्दर समुद्र में वरुण की शोभा को धारण करने वाले, हे कुन्थुनाथ भगवान ! मुझे मोहरूपी नवीन वैरी समूह का दमन करने के लिए मोक्षमार्ग में पहुँचा दें ।

१७वें तीर्थंकर भगवान श्री कुन्थनाथ हुए हैं ।

पूर्व-जन्म

प्राचीन काल में पूर्व महाविदेह क्षेत्र में खड्गी नामक राज्य था । चर्चा उस काल की है, जब इस राज्य में महाप्रतापी नरेश सिंहावह का शासन था । महाराजा स्वयं भी धर्माचारी थे और इसी मार्ग पर अपनी प्रजा को अग्रसर करने का पवित्र कर्त्तव्य भी वे पूर्ण रुचि के साथ निभाते थे । पापों के उन्मूलन में सदा सचेष्ट रहने वाले महाराजा सिंहावह वैभव-सिन्धु मे विहार करते हुए भी कमलपुष्प की भाँति अलिप्त रहा करते थे । अनासक्ति की भावना के साथ ही राज्य-संचालन के दायित्व को पूरा किया करते थे । महाराजा ने यथासमय संयम स्वीकार करने की भावना व्यक्त की और संवराचार्य के पास उन्होंने दीक्षा गृहण कर ली । अपने साधक जीवन में मुनि सिंहावह ने तीव्र साधनाएँ कीं, अर्हद भक्ति आदि बीस स्थानों की आराधना की तथा तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया । समाधि के साथ कालकर मुनि सिंहावह के जीव ने सर्वार्थसिद्धि महाविमान में ३३ सागर की आयु वाले अहमिन्द्र के रूप में स्थान पाया ।

जन्म-वंश

कुरुक्षेत्र में एक राज्य था—हस्तिनापुर नगर । समृद्धि और सुख-शान्ति के लिए उस काल मे यह राज्य अति विख्यात था । सूरंगम तेजस्वी नरेश शूरसेन यहाँ के शासक थे और उनकी धर्मपत्नी महारानी श्री देवी थीं । ये ही भगवान कुन्थुनाथ के माता-पिता थे ।

जब सर्वार्थसिद्धि विमान में सुखोपभोग की अवधि समाप्त हुई, तो वहाँ से प्रस्थान कर मुनि सिंहावह के जीव ने महारानी श्रीदेवी के गर्भ में स्थान पाया । वह श्रावण कृष्णा नवमी का दिन और कृत्तिका नक्षत्र का शुभयोग था । उसी रात्रि में

रानी ने तीर्थंकर के गर्भागमन का द्योतन करने वाले १४ महान् शुभ स्वप्नों का दर्शन किया और अपने सौभाग्य पर वह गर्व और प्रसन्नता का अनुभव करने लगी। प्रफुल्ल-चित्तता के साथ माता ने गर्भ का पालन किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र में ही उसने एक अनुपम रूपवान और तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

कुमार के जन्म पर राज-परिवार और समग्र राज्य में हर्षपूर्वक उत्सव मनाये गये। उत्सवों का यह क्रम १० दिन तक चलता रहा। कुमार जब गर्भ में थे, तो माता ने कुन्थु नामक रत्न की राशि देखी थी। इसी को नामकरण का आधार मानकर पिता ने कुमार का नाम कुन्थुकुमार रखा।

श्री-समृद्धि से पूर्ण, अत्यन्त सुखद एवं स्नेह से परिपूर्ण वातावरण में कुमार का लालन-पालन हुआ। क्रमशः कुमार शैशव से किशोरावस्था में आये और उसे पार कर उन्होने यौवन के सरस प्रांगण में प्रवेश किया।

गृहस्थ-जीवन

युवराज कुन्थुनाथ अतिभव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी बलिष्ठ देह ३५ धनुष ऊँची और समस्त शुभ लक्षणयुक्त थी। वे सौन्दर्य की साकार प्रतिमा से थे। उपयुक्त आयु प्राप्ति पर पिता ने अनिंद्य सुन्दरियों के साथ कुमार का विवाह सम्पन्न कराया। युवराज का दाम्पत्य-जीवन भी बड़ा सुखी था। २४ सहस्र वर्ष की आयु होने पर पिता ने इन्हें राज्यासीन कर दिया। महाराजा होकर कुन्थुकुमार ने शासन-कार्य आरम्भ किया। शासक के रूप में उन्होंने स्वयं को सुयोग्य एवं पराक्रमी सिद्ध किया। पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त वैभव एवं राज्य को और अधिक अभिवर्धित एवं विकसित कर वे 'अतिजातपुत्र' की पात्रता के अधिकारी बने। लगभग पौने चौबीस सहस्र वर्ष का उनका शासनकाल व्यतीत हुआ था कि उनके शस्त्रागार में 'चक्र रत्न' की उत्पत्ति हुई, जो अन्तरिक्ष में स्थापित हो गया। यह शुभ संकेत पाकर महाराजा कुन्थु ने विजय-अभियान की तैयारी की और इस हेतु प्रयाण किया। अपनी शक्ति और साहस के बल पर महाराज ने ६ खण्डों को साधा और अनेक सीमारक्षक देवों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने अधीन कर लिया। ६०० वर्ष तक सतत रूप से युद्धों में विजय प्राप्त करते हुए वे चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से सम्पन्न होकर राजधानी हस्तिनापुर लौटे। महाराज का चक्रवर्ती महोत्सव १२ वर्षों तक मनाया जाता रहा। इस अवधि में प्रजा कर-मुक्त जीवन व्यतीत करती रही थी। सम्राट चौदह रत्नों और नव-निधान के स्वामी हो गये थे। सहस्रों नरेशों के वे अधिराज थे। तीर्थंकरों को चक्रवर्ती की गरिमा ऐश्वर्य के लिए प्राप्त नहीं होती—भोगावली कर्म के कारण होती है। अतः इस गौरव के साथ भी वे विरक्त बने रहते हैं। सम्राट कुन्थुनाथ भी इसके अपवाद नहीं थे।

दीक्षा-ग्रहण व केवलज्ञान

इस प्रकार सुदीर्घकाल तक अपार यश और वैभव का उपभोग करते हुए

महाराजा कुन्थु ने इतिहास में अपना अमर स्थान बना लिया था। उनके जीवन में तब वह क्षण भी आया जब वे आत्मोन्मुखी हो गये। अब उनके भोगकर्म क्षीण होने को आये थे और उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की कामना व्यक्त की। यह उनके विरक्त हो जाने का उपयुक्त समय था—इसकी पुष्टि इस तथ्य से हो गयी कि ब्रह्म-लोक से लोकान्तिक देवों ने आकर उनसे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर वे वर्षीदान में प्रवृत्त हो गये और १ वर्ष तक अपार दान देते रहे। वे प्रतिदिन १ करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्रा दान करते थे। उनके दान की अपारता का उपमान मेघ वृष्टि को माना जाता था। एक और भी विशेषता उनके दान के विषय में विख्यात है। याचक दान में प्राप्त धन को जिस धन-राशि में सम्मिलित कर लेता था, वह धनराशि अक्षय हो जाती थी, कभी समाप्त ही नहीं होती थी।

वर्षीदान सम्पन्न हो जाने पर भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया गया। इन्द्रादि देव इसमें सम्मिलित हुए और भगवान कुन्थुनाथ ने दीक्षाभिषेक के पश्चात् गृह-त्याग कर निष्क्रमण किया। विजया नामक शिविका में बैठकर वे सहस्राम्रवन में पहुँचे जहाँ उन्होंने अपने मूल्यवान वस्त्रालंकारों को त्याग दिया। वैशाख कृष्णा पंचमी को कृत्तिका-नक्षत्र के शुभयोग में पंचमुष्टि लोचकर षष्ठ भक्त तप के साथ भगवान ने चारित्र स्वीकार लिया। इसी समय भगवान को मनःपर्यवज्ञान का लाभ हुआ था। दीक्षा के आगामी दिन चक्रपुर नगर के नरेश व्याघ्रसिंह के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

पारणा के पश्चात् भगवान कुन्थुनाथ स्वामी अपने अजस्र विहार पर निकले और १६ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में उन्होंने अनेक परीषह झेलते हुए विचरण किया तथा कठोर तप-साधना की। अन्ततः प्रभु पुनः हस्तिनापुर के उसी सहस्राम्रवन में पधारे जहाँ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। तिलक वृक्ष के तले प्रभु ने षष्ठभक्त तप के साथ कायोत्सर्ग किया। शुक्लध्यान में लीन होकर उन्होंने क्षपक श्रेणी में आरोहण किया और घातिक कर्मों को क्षीण करने में सफल हो गये। अब भगवान केवलज्ञान के स्वामी होगये थे। इस महान् उपलब्धि की शुभ वेला थी—चैत्र शुक्ला तृतीया को कृत्तिका नक्षत्र की घड़ी।

प्रथम धर्म-देशना

प्रभु की इस उपलब्धि से त्रैलोक्यव्यापी प्रकाश उत्पन्न हुआ और केवलज्ञान महोत्सव मनाया गया। सहस्राम्रवन में ही प्रभु का समवसरण भी रचा गया और जन-जन के हितार्थ भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना दी। केवली भगवान कुन्थुनाथ ने श्रुतधर्म व चारित्रधर्म की व्याख्या करते हुए इनके महत्व का प्रतिपादन किया। विशेषतः सांसारिकों के दुःख पर आत्म-चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान ने बोध कराया कि अज्ञान और मोह के बीज ही अंकुरित होकर दुःख की लता को

साकार रूप देते हैं। यह लता अबाध रूप से फैलती है एवं भय, संताप आदि फलों को ही उत्पन्न करती है। अतः इन कष्टों से मुक्त होने के लिए इनके बीज को ही नष्ट करना पड़ेगा। अज्ञान, मोह आदि को जो नष्ट कर देता है वह दुःखों के जाल से मुक्त हो जाता है।

असंख्य भव्यजन इस देशना से प्रबोधित हुए और उन्होंने दीक्षा को अंगीकार कर लिया। प्रभु चतुर्विध संघ स्थापित कर भाव तीर्थंकर कहलाए।

परिनिर्वाण

केवली प्रभु ने विचरणशील रहकर अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाया और असंख्य नर-नारियों को उस प्रकाश में अपना उचित मार्ग खोजने में सफलता मिलती रही। व्यापक लोक-मंगल करते-करते जब प्रभु ने अपना निर्वाण-काल समीप ही अनुभव किया, तो वे सम्मेत शिखर पहुँचे। तब तक केवलज्ञान प्राप्ति को २३ हजार ७ सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। भगवान ने एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया। वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र में भगवान कुन्थुनाथ ने सम्पूर्ण कर्मों का विनाश कर दिया और निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। अब वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये थे।

धर्म-परिवार

गणधर	३५
केवली	३,२००
अवधिज्ञानी	२,५००
मनःपर्यवज्ञानी	३,३४०
चौदह पूर्वधारी	६७०
वैक्रियलब्धिधारी	५,१००
वादी	२,०००
साधु	६०,०००
साध्वी	६०,६००
श्रावक	१,७९,०००
श्राविका	३,८१,०००

□□

18

भगवान अरनाथ

(चिन्ह—नन्दावर्त स्वस्तिक)

जिनके चरण तल में देवश्रेणी लोटती है—ऐसे हे सुदर्शन सुत अरनाथ स्वामि ! आपके चरण-कमलों की सेवा, शान्त न होने वाले भव-रोग की औषधि समान, बड़ी ही उत्तम है। अतः मैं भी आपकी सेवा को अंगीकार करता हूँ। आपकी आज्ञा का पालन करना ही आपकी सच्ची सेवा है।

भगवान कुंथुनाथ के पश्चात् अवतरित होने वाले भगवान अरनाथ स्वामी १८वें तीर्थंकर हुए हैं।

पूर्व जन्म

भगवान अरनाथ स्वामी अपने पूर्व भवों में बड़े पुण्यात्मा जीव रहे। वे त्याग, तपस्या, क्षमा, विनय और भक्ति को ही सर्वस्व मानते रहे। इन्हीं सुसंस्कारों का परिणाम तीर्थंकरत्व की उपलब्धि के रूप में प्रकट हुआ था। इस भव से ठीक पूर्व के भव की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है।

महाविदेह क्षेत्र के वत्स नामक विजय में एक सुन्दर नगरी थी—सुसीमा। एक समय यहाँ धनपति नाम के राजा राज्य करते थे। महाराजा धनपति के शासन की विशेषता यह थी, कि वह प्रेमपूर्वक चलाया जाता था। महाराज ने, जो दया, क्षमा और प्रेम के जैसे साक्षात् अवतार ही थे, अपनी प्रजा को न्याय, धर्म, अनुशासन, पारस्परिक स्नेह, बन्धुता, सत्याचरण आदि सद्गुणों के व्यवहार के लिए ऐसा प्रेरित किया था कि उनके राज्य में अपराध-वृत्ति का समूल विनाश हो गया था। परिणामतः उनके शासन-काल में दण्ड-विधान प्रयुक्त ही नहीं हो पाया। पिता के समान राजा अपनी प्रजा का पालन किया करते थे और उनके स्नेह से अभिभूत जनता भी अपने महाराजा का अतिशय आदर करती एवं स्वेच्छापूर्वक उनकी नीतियों का अनुसरण करती थी। धर्म और न्याय के साथ शासन करते हुए महाराजा धनपति को जब पर्याप्त समय हो गया और अवस्था ढलने लगी तो उनके मन में पहले से स्थिर हो रही अनासक्ति का भाव प्रबल होने लगा। एक दिन अपना राज्य उत्तराधिकारी को सौंप कर सब कुछ त्याग कर वे विरक्त हो गये। संवर मुनि के पास उन्होंने दीक्षा ले ली और तप-साधना करते हुए वे विहार-रत हो गये। अपनी उच्चकोटि की साधना द्वारा उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया तथा समाधि सहित काल कर वे ग्रैवेयक

में महर्द्धिक देव बने। यही जीव आगे चलकर भगवान अरनाथ के रूप में अवतरित हुआ।

जन्म-वंश

उन दिनों हस्तिनापुर राज्य में इक्ष्वाकु वंश के महाराजा सुदर्शन का शासन था। इनकी धर्मपत्नी महारानी महादेवी अत्यन्त धर्म-परायणा एवं शीलवती थी। स्वर्गिक सुखोपभोग की अवधि जब शेष नहीं रही तो मुनि धनपति का जीव ग्रैवेयक से च्यवकर रानी महादेवी के गर्भ में स्थिर हुआ। वह फाल्गुन शुक्ला द्वितीया का दिन था और उसी (गर्भ धारण की) रात्रि को रानी ने १४ शुभ स्वप्नों का दर्शन किया। वह भावी तीर्थंकर की जननी बनने वाली है—यह ज्ञात होने पर रानी महादेवी का मन मुदित हो उठा और इसी सुखी मानसिक दशा के साथ उसने गर्भकाल व्यतीत किया।

यथासमय गर्भ की अवधि पूर्ण हुई और महारानी ने मृगशिर शुक्ला दशमी को पुत्र प्रसव किया। नवजात शिशु अत्यन्त तेजस्वी था और अनुपम रूपवान भी। तीर्थंकर के जन्म ले लेने का समाचार पलभर में तीनों ही लोकों में प्रसारित हो गया। सर्वत्र हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। कुछ पलों के लिए तो घोर यातना भोग रहे नारकीय जीव भी अपने कष्टों को विस्मृत कर बैठे। ५६ दिक्कुमारियों ने आकर माता महादेवी को श्रद्धासहित नमस्कार किया। देवताओं ने भी भगवान का जन्मोत्सव अत्यन्त हर्ष के साथ मनाया। राज-परिवार और प्रजाजन की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या? विविध उत्सवों और मंगल-गानों के माध्यम से इन्होंने हार्दिक प्रसन्नता को अभिव्यक्ति दी।

जब भगवान गर्भ में थे, तभी माता ने रत्न निर्मित चक्र के अर को देखा था। इसी हेतु से महाराज सुदर्शन ने 'अरनाथ' नाम से कुमार को पुकारा और वही नाम उसके लिए प्रचलित हुआ।

गृहस्थ-जीवन

कुमार अरनाथ सुखी, आनन्दपूर्ण बाल-जीवन व्यतीत कर जब युवक हुए तो लावण्यवती नृपकन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। २१ हजार वर्ष की आयु प्राप्ति पर उनका राज्याभिषेक हुआ। महाराजा सुदर्शन ने समस्त राजकीय दायित्व युवराज अरनाथ को सौंप दिये और स्वयं विरक्त हो गये। महाराज अरनाथ वंश-परम्परा के अनुकूल ही अतिपराक्रमी, शूरवीर और साहसी थे। अपने राज्यत्वकाल के इक्कीस सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुकने पर पूर्व तीर्थंकर की भाँति ही इनकी आयुधशाला में भी चक्ररत्न उदित हुआ। यह इस बात का घोषक था कि महाराजा अरनाथ को अब दिग्विजय कर चक्रवर्ती सम्राट बनना है। नरेश ने चक्ररत्न का पूजन किया और चक्र शस्त्रागार छोड़कर अंतरिक्ष में स्थिर हो गया। भूपति ने संकेतानुसार विजय अभियान हेतु सैन्य सजाया और तत्काल प्रयाण किया। इस शौर्य अभियान में महाराजा

अरनाथ ससैन्य एक योजन की यात्रा प्रतिदिन किया करते और इस बीच स्थित राज्यों के नृपतियों से अपनी अधीनता स्वीकार कराते चलते। आसिंधु विजय (पूर्व की दिशा मे) कर चुकने के पश्चात वे दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख हुए। इस क्षेत्र को जीतकर पश्चिम की ओर अग्रसर हुए और महान् विजयश्री पाकर वे उत्तर मे आये। यहाँ के भी तीनों खण्डों को उन्होने साध लिया। गंगा समीप का सारा क्षेत्र भी उन्होंने अधीनस्थ कर लिया और इस प्रकार समस्त भरतखण्ड में विजय ध्वजा फहराकर महाराज ४०० वर्षों के इस अभियान की उपलब्धि 'चक्रवर्ती गौरव' के साथ राजधानी हस्तिनापुर लौटे थे। देव-मनुजों के विशाल समुदाय ने भूपेश का चक्रवर्ती नरेश के रूप में अभिषेक किया। इसके साथ ही समारोह जो प्रारम्भ हुए तो १२ वर्षों तक चलते रहे।

दीक्षा—केवलज्ञान

जब सम्राट अरनाथ २१ सहस्र वर्षों तक अखिल भरतक्षेत्र का एकछत्र आधिपत्य भोग चुके, तो उनकी चिन्तन-प्रवृत्ति प्रमुखता पाने लगी और वे गम्भीरता-पूर्वक सांसारिक सुखो और विषयों की असारता पर विचार करने लगे। संयम स्वीकार कर लेने की अभिलाषा उनके मन मे अंगड़ाइयाँ लेने लगी। तभी लोकान्तिक देवों ने उनसे धर्मतीर्थ के प्रवर्तन हेतु प्रार्थनाएँ की। इससे सम्राट को अपने जीवन की भावी दिशा का स्पष्ट संकेत मिल गया और उन्होने समझ लिया कि अब उनके भोग-कर्म चुक गये हैं। अतः तत्काल ही वे युवराज अरविन्द कुमार को सत्ता सौंपकर स्वयं विरक्त हो गये और वर्षीदान करने लगे। वर्षभर तक उदारता के साथ प्रभु ने याचकों को दान दिया और इसकी समाप्ति पर उनका दीक्षाभिषेक हुआ। तदनन्तर वैजयन्ती शिविका पर आरूढ़ होकर भगवान सहस्राम्र उद्यान में पधारे। यहाँ आकर उन्होंने वैभव व भौतिक पदार्थों के अन्तिम अवशेष वस्त्रों एवं आभूषणों का भी परित्याग कर दिया। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी का वह स्मरणीय दिन था जब भगवान ने षष्ठम भक्त तप में संयम ग्रहण कर लिया। दीक्षा-ग्रहण के तुरन्त पश्चात् ही भगवान को मनःपर्यवज्ञान का लाभ हो गया था।

आगामी दिवस प्रभु ने विहार किया और राजपुर पहुँचे। वहाँ के भूपति अपराजित के यहाँ परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।

राजपुर से प्रस्थान कर भगवान अरनाथजी अति विशाल क्षेत्र में विहार करते हुए नाना भाँति के परीषह सहे और कठोर तप व साधनाएँ करते रहे। निद्रा-प्रमाद से वंचित रहते हुए ध्यान की तीन वर्ष की साधना अवधि के पश्चात् भगवान का पुनः हस्तिनापुर में आगमन हुआ। उसी उद्यान में, जो उनका दीक्षास्थल था, एक आम्रवृक्ष के नीचे प्रभु ध्यान लीन हो गये। कायोत्सर्गकर शुक्लध्यान की परमस्थिति पर ज्यों ही भगवान पहुँचे कि उन्होंने सभी घातिक कर्मों को विदीर्ण कर दिया। उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

भगवान के केवलज्ञान-लाभ से त्रिलोक में एक प्रचण्ड आलोक फैल गया। आसन-कम्प से इन्द्र को सन्देश मिला कि भगवान अरनाथ केवली हो गये हैं। वह अन्य देवताओं सहित भगवान की स्तुति हेतु उपस्थित हुआ।

विशाल समवसरण रचा गया। प्रभु की प्रथम धर्मदेशना से लाभान्वित होने के लिए देव-मनुजों का ठाठ लग गया। भगवान की अमोघवाणी से असंख्य प्राणी उद्‌बोधित हुए और अनेक ने संयम स्वीकार कर लिया, जो आत्मबल में इतने उत्कृष्ट न थे, वे भी प्रेरित हुए और उन्होंने धर्माराधना आरंभ की। भगवान अरनाथ ने चतुर्विध धर्मसंघ का प्रवर्तन किया और भाव तीर्थंकर व भाव अरिहन्त[1] कहलाए।

परिनिर्वाण

अज्ञानी जनों को धर्म का बोध कराते हुए भगवान ने भूमण्डल पर सतत विहार किया और असंख्य नर-नारियों को आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ किया। इस प्रकार ८४ हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर लेने पर उन्हें अपना निर्वाण-समय समीप अनुभव हुआ। भगवान ने एक हजार अन्य मुनियों सहित सम्मेत शिखर पर अनशनारंभ किया। अन्ततः शैलेशी दशा प्राप्त कर भगवान ने ४ अघातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में निर्वाण पद का लाभ किया। इस प्रकार भगवान अरनाथ सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। वे निरंजन, निराकार, सिद्ध बन गये।

धर्म-परिवार

गणधर	३३
केवली	२,८००
मन.पर्यवज्ञानी	२,५५१
अवधिज्ञानी	२,६००
चौदह पूर्वधारी	६१०
वैक्रियलब्धिधारी	७,३००
वादी	१,६००
साधु	५०,०००
साध्वी	६०,०००
श्रावक	१,८४,०००
श्राविका	३,७२,०००

□□

१ भाव अरिहंत निम्नलिखित १८ आत्मिक दोषों से मुक्त होते हैं—
१. ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान दोष—२. दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा दोष—३. मोहकर्मजन्य मिथ्यात्व दोष—४. अविरति दोष—५. राग—६. द्वेष—७. हास्य—८. रति—९. अरति-खेद—१०. भय—११. शोक-चिंता—१२. दुगुन्छा—१३. काम—१४-१८ दानान्तराय आदि ५ अंतराय दोष।

19

भगवान मल्लिनाथ

(चिन्ह—कलश)

जिनके चरण कमल शांति रूपी वृक्ष को सींचने मे अमृत के समान है, जिनका शरीर प्रियंगुलता के समान सुन्दर है और जो कामदेव रूपी मधु दैत्य के लिए कृष्ण के समान वीर हैं—ऐसे हे मल्लिनाथप्रभु ! आपके चरण-कमलों की सेवा मुझे सदा सर्वदा प्राप्त हो।

भगवान श्री मल्लिनाथ का तीर्थंकरों की परम्परा में १९वां स्थान है। तीर्थंकर प्रायः पुरुष रूप में ही अवतरित होते हैं और अपवादस्वरूप स्त्रीरूप मे उनका अवतीर्ण होना एक आश्चर्य माना जाता है। अवसर्पिणी काल में १९वें तीर्थंकर का स्त्रीरूप में जन्म लेना भी इस काल के १० आश्चर्यों मे से एक है। इनके स्त्रीरूप मे अवतरण का विषय वैसे विवाद का विषय भी है। दिगम्बर परम्परा इन्हें स्त्री स्वीकार नहीं करती।

पूर्व-जन्म

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह के सलिलावती विजय में वीतशोका नगरी धन-धान्य से परिपूर्ण थी। इस सुन्दर राज्य के अधिपति किसी समय महाराजा महाबल थे। ये अत्यन्त योग्य, प्रतापी और धर्माचारी शासक थे। कमलश्री इनकी रानी का नाम था और उससे उन्हें बलभद्र नामक पुत्र की प्राप्ति हुई थी। वैसे महाराजा महाबल ने ५०० नृपकन्याओं के साथ अपना विवाह किया था तथापि उनके मन मे संसार के प्रति सहज अनासक्ति का भाव था, अतः बलभद्र के युवा हो जाने पर उसे सिंहासनारूढ़ कर महाराजा महाबल ने धर्म-सेवा व आत्म-कल्याण का निश्चय कर लिया। इनके सुख-दुःख के साथी बाल्यकाल के ६ मित्र* थे। इन मित्रों ने भी महाराजा का अनुसरण किया। सांसारिक संतापों से मुक्ति के अभिलाषी महाबल ने जब संयम व्रत ग्रहण करने का निश्चय किया, तो उनके इन मित्रों ने न केवल इस विचार का समर्थन किया, अपितु इस नवीन मार्ग पर राजा के साथी बने रहने का अपना विचार व्यक्त किया अतः इन सातों ने वरधर्म मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा प्राप्त कर सातों मुनियों ने यह निश्चय किया कि हम सब एक ही प्रकार की और एक ही

---

* १. धरण, २. पूरण, ३. वसु, ४. अचल ५. वैश्रवण, ६. अभिचन्द्र

समान तपस्या करेंगे। कुछ काल तक तो उनका यह निश्चय क्रियान्वित होता रहा, किंतु मुनि महाबल ने कालान्तर में यह सोचा कि इस प्रकार एकसा फल सभी को मिलने के कारण मैं भी इनके समान ही हो जाऊँगा। फिर मेरा इनसे भिन्न, विशिष्ट और उच्च महत्त्व नहीं रह जायगा। इस कारण गुप्त रीति से वे अतिरिक्त साधना एवं तप भी करने लगे। जब अन्य ६ मुनि पारणा करते तो ये उस समय पुनः तपरत हो जाते। इस प्रकार छद्मरूप मे तप करने के कारण स्त्रीवेद का बन्ध कर लिया। किंतु साथ ही साथ २० स्थानों की आराधना के फलरूप में उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म भी अर्जित किया। सातों मुनियों ने ८४ हजार वर्ष की दीर्घावधि तक संयम पर्याय का पालन किया। अन्ततः समाधिपूर्वक देह त्याग कर जयन्त नामक उनुत्तर विमान में ३२ सागर आयु के अहमिन्द्र देव के रूप में उत्पन्न हुए।

माया या कपट धर्म-कर्म में अनुचित तत्त्व है। इसी माया का आश्रय मुनि महाबल ने लिया था और उन्होंने इसका प्रायश्चित्त भी नही किया। अतः उनका स्त्रीवेद कर्म स्थगित नहीं हुआ। कपट-भाव से किया गया जप-तप भी मिथ्या हो जाता है। उसका परिणाम शून्य ही रह जाता है।

जन्म-वंश

जम्बूद्वीप के विदेह देश में एक नगरी थी—मिथिलापुरी। किसी समय मिथिला पुरी मे महाराजा कुंभ का शासन था, जिनकी रानी प्रभावती देवी अत्यन्त शीलवती महिला थी। फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी को अश्विनी नक्षत्र में मुनि महाबल का जीव अनुत्तर विमान से अवरोहित होकर रानी प्रभावती के गर्भ मे आया। भावी महापुरुषों और तीर्थंकरो की जननी के योग्य १४ महास्वप्न देखकर माता प्रभावती अत्यन्त उल्लसित हुई। पिता महाराजा कुंभ को भी अत्यन्त हर्ष हुआ। माता को दोहद (गर्भ वती स्त्री की तीव्र इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'उन स्त्रियो का अहोभाग्य है जो पंचवर्णीय पुष्प-शय्या पर शयन करती हैं तथा चम्पा, गुलाब आदि पुष्पों की सौरभ का आनन्द लेती हुई विचरती है।' राजा के द्वारा रानी का यह दोहद पूर्ण किया गया।

गर्भावधि पूर्ण होने पर मृगशिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में ही माता प्रभावती ने एक अनुपम सुन्दरी और मृदुगात्रा कन्या को जन्म दिया। ये ही १६वें तीर्थंकर थे जिन्होंने पुत्री रूप मे (अपवादस्वरूप) जन्म लिया। माता को पुष्प शैय्या का दोहद हुआ था जिसमें मालती पुष्पों की अधिकता (प्रधानता) थी और देवताओं द्वारा दोहद पूर्ण किया गया था, अतः बालिका का नाम 'मल्ली' रखा गया।

रूप-ख्याति

अभिजात कन्या जन्म से ही अत्यन्त रूपवती थी। उसका अंग-प्रत्यग शोभा का जैसे अमित कोष था। सर्वगुण सम्पन्ना राजकुमारी मल्ली ज्यों-ज्यों आयु प्राप्त करती जा रही थी, त्यों-त्यों उसके लावण्य और आकर्षण में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती

जा रही थी। उसके सौन्दर्य-पुष्प की ख्याति-सौरभ सर्वत्र प्रसारित हो गयी। युवती हो जाने पर तो उसकी शोभा को और भी चार-चाँद लग गये। रूप-सौरभ से मुग्ध अनेक नृप-भ्रमर राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए चंचल हो उठे थे। राजकुमारी के पास तो सौन्दर्य के साथ-साथ शील और विनय का धन भी था किन्तु पिता महाराजा कुंभ पुत्री के अद्वितीय सौन्दर्य पर दर्प किया करते थे और उनका यह अभिमान उन्हें अच्छे-अच्छे वैभवशाली, पराक्रमी नरेशों को भी अपनी कन्या के योग्य नहीं मानने देता था।

सांसारिक नियमानुसार राजकुमारी के लिए मनोज्ञ और योग्य महाराजाओं की ओर से सम्बन्ध के प्रस्ताव आने लगे, किंतु संदेशवाहक का तिरस्कार करना, प्रस्तावक नरेश को अयोग्य मानकर उसकी निन्दा करना—महाराजा कुंभ का स्वभाव ही हो गया था। साकेतपुर के नरेश प्रतिवुद्धि ने ऐसे ही सन्देश के साथ अपना दूत कुंभराजा की सेवा में भेजा। दूत ने अपने स्वामी के बल, पराक्रम, वैभव आदि का जो बखान किया तो वह मल्लीकुमारी के पिता को सहन नहीं हुआ। साकेतपुर के राजा की ओर से की गयी इस याचना से ही वे रुष्ट हो गये थे। मेरी राजकुमारी इन्द्र के लिए भी दुर्लभ हैं, तुम्हारा राजा तो है ही क्या?—ऐसा कहते हुए पिता दूत को लौटा दिया। उन्होंने यह भी कहा कि तुम्हारा राजा अपने को शायद बड़ा ही श्रेष्ठ मानता है—उससे कहो कि मेरी बेटी की कल्पना भी न करे। कहाँ मेरी अलौकिक रूप-सम्पन्ना मल्लीकुमारी और कहाँ वह साधारण-सा राजा। उसे चाहिये कि वह किसी साधारण राजकुमारी के लिए प्रस्ताव भेजे। स्वाभाविक ही था कि इस उत्तर से नृपति प्रतिवुद्धि कुपित हो—उसके मन में प्रतिशोध की अग्नि धधक उठे।

इसी प्रकार अन्य अनेक राजाओं ने भी कुमारी मल्ली के लिए सन्देश भेजे, किन्तु सबके लिए राजा के पास इसी आशय के उत्तर थे कि मेरी कन्या के साथ विवाह करने की योग्यता उन अन्य राजाओं में नहीं है, वे हीन कोटि के हैं और उचित पात्रता के अभाव मे उन्हें इस प्रकार की याचना नहीं करनी चाहिये। यही नहीं राजा कुंभ ने उन राजाओं की कड़ी भर्त्सना भी की। चम्पा नगरी के भूपति चन्द्रछाया, श्रावस्ती नगरी के नरेश रुक्मी, वाराणसी नगरी के राजा शंख, हस्तिनापुर के नृपति अदीनशत्रु और कम्पिल के महाराजा जितशत्रु सभी के साथ ऐसा ही अपमान जनक और तिरस्कारपूर्ण व्यवहार हुआ। परिणामतः इन नरेशों के मन का प्रीति-भाव वैर-विरोध मे परिणत हो गया और वे प्रतिशोध पूर्ति का उपक्रम करने लगे। ये छहों राजा संगठित होकर प्रयत्न करने लगे।

कालान्तर में इन राजाओं ने कुम्भ के राज्य (मिथिला) पर ६ विभिन्न दिशाओं से एक साथ आक्रमण कर दिया। मिथिला पर घोर संकट छा गया। राष्ट्र को ऐसे किसी एक भी अप्रत्याशित आक्रमण को विफल करने की स्थिति में लाना भी कठिन-तर हो जाता है—फिर यहाँ तो ६ आक्रमण एक ही साथ थे। राजा बड़ा चिन्तित और

दुखित हुआ। उसे राष्ट्र-रक्षा का मार्ग नहीं दिखाई देता था। विपत्ति की इस भयंकर घड़ी में राजकुमारी मल्ली ने राजा को सहारा दिया, उसे आश्वस्त किया कि वह युद्ध को टाल देगी और इस प्रकार राज्य सम्भावित विध्वंस से बच जायगा। राजा ने प्रथमतः उसे कुमारी का बाल-चापल्य ही समझा, किन्तु राजकुमारी ने जब पूरी योजना से उसे अवगत किया तो उसे कुछ विश्वास हो गया।

यह राजकुमारी मल्ली तो एक कारण विशेष से स्त्री रूप में उत्पन्न हुई थी, अन्यथा वह तो तीर्थंकरत्व की समस्त क्षमता से युक्त ही थी। भगवती मल्ली ने अपने अवधिज्ञान के बल पर ज्ञात कर लिया कि ये ६ राजा और कोई नहीं—उसके पूर्व भव के घनिष्ठ मित्र ही हैं, जिनके साथ उन्होंने मुनि महाबल के भव में तप के प्रसंग मे माया-मिश्रित व्यवहार किया था। राजकुमारी पहले से ही इस संकट के विषय में परिचित थी। निदानार्थ उसने राजधानी में एक मोहन-गृह निर्मित करवाया था, जिसके ६ कक्ष थे। इन कक्षों के ठीक मध्य में उसने एक मणिमय पीठिका बनवायी और उस पर अपनी ही पूर्ण आकार की स्वर्ण-पुत्तलिका निर्मित करवायी थी। इस प्रतिमा के मस्तक पर कमल की आकृति का किरीट था। इस किरीट को पृथक किया जा सकता था। प्रतिमा के कपाल में एक छिद्र था, जो तालु के पार होकर उदर तक चला गया था और भीतर से उदर खुला था। इस सारी संरचना के पीछे एक विशेष योजना थी, जिसका उद्देश्य मल्लीकुमारी द्वारा इन छह राजाओं के रूप में अपने पूर्वभव के मित्रों को प्रतिबोध कराने का था। मल्लीकुमारी प्रतिदिन इस स्वर्ण प्रतिमा का कमल किरीट हटाकर भोजन के समय एक ग्रास उसके उदर में डाल देती थी और किरीट पुनः यथास्थान रख देती थी। इस प्रतिमा को चारों ओर से घेरकर जो दीवार बनवाई गई थी उसमें ६ द्वार (६ कक्षों के) इस प्रकार बने हुए थे कि एक द्वार से निकल कर आया हुआ व्यक्ति केवल प्रतिमा का ही दर्शन कर पाए, वह अन्य द्वार या उससे आये व्यक्ति को नहीं देख पाए।

यह सारा उपक्रम तो मल्ली पहले ही कर चुकी थी। अब योजनानुसार राजकुमारी ने पिता से निवेदन किया कि आक्रामक नरेशों में से प्रत्येक को पृथक-पृथक रूप से यह कहलवा दीजिए कि राजकुमारी उसके साथ विवाह करने को तैयार है—वह आक्रमण न करे। बल से कार्य सिद्ध होते न देखकर भी राजा छल से काम नहीं लेने के पक्ष मे था और मल्ली ने उसे बोध दिया कि यह व्यवहार छल नही मात्र एक कला है।

निदान, ऐसा ही किया गया। सभी नरेशों को पृथक-पृथक रूप से संदेश भिजवा दिये गये। फलतः युद्ध सर्वथा टल गया। अलग-अलग समय मे एक-एक राजा का स्वागत किया गया और उन्हें इस मोहन-गृह के एक-एक कक्ष में पहुँचा दिया गया। किसी भी राजा को शेष राजाओं की स्थिति के विषय में कुछ भी ज्ञात न था। उनमें से प्रत्येक स्वयं को अन्यों की अपेक्षा उत्तम भाग्यशाली समझ रहा था कि उसे ऐसी

लावण्यवती पत्नी मिलेगी। उस प्रतिमा को वे सभी राजा मल्ली कुमारी समझ रहे थे। मन ही मन वे अपनी इस भावी पत्नी के सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहे थे और अपने भाग्य पर इठला रहे थे। तभी भगवती (मल्ली कुमारी) गुप्त मार्ग से पीठिका तक पहुँची। राजा आश्चर्यचकित रह गये। वे समझ नहीं पा रहे थे कि ये दो-दो मल्ली कुमारियाँ कैसे आ गयी। रहस्य उन्हें कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। वे इस विचित्र परिस्थिति में डूबते-उतराते ही जा रहे थे कि भगवान ने स्वर्ण प्रतिमा का कमलाकार किरीट हटा दिया। मोहनगृह का सुरम्य और सरस वातावरण क्षण मात्र में ही भयंकर दुर्गन्ध के रूप में परिवर्तित हो गया।

प्रतिमा के कपाल का छिद्र ज्यों ही अनावृत हुआ, उसके उदरस्थ अन्न की सड़ांध सभी कक्षों में फैल गयी। तीव्र दुर्गंध के मारे छहों राजाओं का बुरा हाल हो गया। उनका जी मिचलाने लगा और व्याकुल होकर त्राहि-त्राहि करने लगे। उन्होंने प्रतिमा की ओर से मुँह मोड़ लिया।

मल्ली ने उन्हें सम्बोधित कर प्रश्न किया कि 'मेरे सौन्दर्य पर आसक्त थे आप लोग तो, फिर सहसा मुझसे विमुख क्यों हो गये ?'

राजाओं ने एक स्वर से उत्तर दिया कि तुम्हारा दर्शन तो मनोमुग्धकारी है, अपार आनंद उपजाता है। लेकिन नासिका का अनुभव अत्यंत बीभत्स है। यह भयंकर दुर्गंध सहन नहीं होती। हमें कोई मार्ग नहीं मिल पा रहा है। कोई हमें इस कक्ष से बाहर निकाले तो इस यातना से मुक्ति मिले। हमारा दम घुट रहा है। तभी भगवान ने उन्हें बोध दिया। इस आकर्षक, लावण्ययुक्त स्वर्ण प्रतिमा में से ही असह्य दुर्गंध निकल रही है। इसके उदर में प्रतिदिन एक-एक ग्रास अन्न पहुँचा है, जो विकृत होकर तुम्हारे मन में ग्लानि उत्पन्न कर रहा है। मेरा यह कंचन-सा शरीर भी रक्त-मज्जादि सप्त धातुओं का संगठन मात्र है, जो तुम्हारे लिए मोह और आसक्ति का कारण बना हुआ है। किंतु यह बाह्य विशेषताएँ असार है, अवास्तविक हैं। माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग का परिणाम यह शरीर भीतर से मलिन है, अशुचि रूप है। पवित्र अन्न भी इस शरीर के सम्पर्क में आकर विकारयुक्त और घृणोत्पादक हो जाता है, मल में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे शरीर की मोहिनी पर जोकि सर्वथा मिथ्या है, प्रवंचना है—आसक्त होना क्या विवेक का परिचायक है ? अपने पूर्वभव का ध्यान कर आप आत्म-कल्याण में प्रवृत्त क्यों नहीं होते ?

विषयाधीन इन राजाओं के ज्ञान-नेत्र खुल गये। उन्होंने भगवान की वाणी से प्रभाव ग्रहण किया। सभी कक्षों के द्वार उन्मुक्त कर दिये गये और राजागण बाहर निकले। अपने अज्ञान और उसके वशीभूत होकर किये गये कर्मों पर वे लज्जित होने लगे। उन्होंने मल्लीकुमारी का उपकार स्वीकार किया कि उनकी नरक की घोर यातनाओं से रक्षा हो गयी। उन्होंने मल्लीकुमारी से कल्याणकारी मार्ग बताने का निवेदन किया।

आश्वासन देकर प्रभु ने उनके उद्विग्न चित्तों को शांत किया और कहा कि मैं तो आत्म-कल्याण के प्रयोजन से चारित्र स्वीकार करना चाहता हूँ। तुम मेरे पूर्वभव के मित्र और सहकर्मी रहे हो। यदि चाहो तो तुम भी विरक्त होकर इस मार्ग का अनुसरण करो। इस उपकार-भार से नमित राजाओं ने आत्म-कल्याण का अमोघ साधन मानकर चारित्र स्वीकार करने की सहमति दी।

भगवान चारित्रधर्म स्वीकार कर तीर्थंकरत्व की ओर अग्रसर होने का संकल्प कर ही चुके थे। इधर लोकान्तिक देवों ने भगवान से प्रार्थना भी की, जिससे भगवान ने अपना विचार और भी प्रबलतर कर लिया।

दीक्षा-केवलज्ञान

अब भगवान वर्षीदान में प्रवृत्त हुए और मुक्तहस्ततापूर्वक दान करने लगे। इसके सम्पन्न हो जाने पर इन्द्रादि देवों ने प्रभु का दीक्षाभिषेक किया और तत्पश्चात भगवान ने गृह-त्याग कर दिया। निष्क्रमण कर वे जयन्त नामक शिविका में सहस्राम्रवन पधारे। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को भगवान मल्लि ने ३०० स्त्रियों और १००० पुरुषों के साथ संयम स्वीकार कर लिया। दीक्षा-ग्रहण के तुरन्त पश्चात् उन्हें मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि हो गयी थी। प्रभु का प्रथम पारणा राजा विश्वसेन के यहाँ हुआ।

दीक्षा लेते ही उसी दिन मनःपर्यवज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवती मल्ली उसी सहस्राम्रवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानलीन हो गयी। विशिष्ट उल्लेख्य बिन्दु यह है कि भगवान दीक्षा के दिन ही केवली भी बन गये थे। शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओं के द्वारा अपूर्वकरण में उन्होंने प्रवेश कर लिया, जिसमे ज्ञानावरण आदि का क्षय कर देने की क्षमता होती है। अत्यन्त त्वरा के साथ आठवें, नौवें, दसवें और बारहवें गुणस्थान को पार उन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन का लाभ प्राप्त कर लिया। पूर्वकथनानुसार यह तिथि दीक्षा की ही मृगशिर शुक्ला एकादशी की तिथि थी। केवलज्ञान में ही आपका प्रथम-पारणा सम्पन्न हुआ था।

प्रथम देशना

केवली भगवान मल्लिनाथ के समवसरण की रचना हुई। भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में ही अनेक नर-नारियों को प्रेरित कर आत्म कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ कर दिया। देशना द्वारा प्रभावित होकर भगवान के माता-पिता महाराजा कुंभ और रानी प्रभावती देवी ने श्रावक धर्म स्वीकार किया और विवाहाभिलाषी जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। आपने चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर की गरिमा प्राप्त की। ५५ हजार वर्षों तक विचरणशील रहकर भगवान ने धर्म शिक्षा का प्रचार किया और असंख्य जनों को मोक्ष-प्राप्ति की समर्थता उपलब्ध करायी।

परिनिर्वाण

अपने अन्त समय का आभास पाकर भगवान ने संथारा लिया और चैत्र शुक्ला चतुर्थी की अर्धरात्रि मे भरणी नक्षत्र के शुभ योग मे, चार अघातिकर्मों का क्षय किया एवं निर्वाणपद प्राप्त कर लिया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	२८
केवली	२,२००
मनःपर्यवज्ञानी	१,७५०
अवधिज्ञानी	२,२००
चौदह पूर्वधारी	६६८
वैक्रियलब्धिधारी	२,६००
वादी	१,४००
साधु	४०,०००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	२,०००
साध्वी	५५,०००
श्रावक	१,८३,०००
श्राविका	३,७०,०००

□□

भगवान मुनिसुव्रत

(चिन्ह—कूर्म=कछुआ)

हे भगवान ! आप मायारहित महातेजस्वी है। आपने अपनी तपस्या से महामुनियों को भी चकित कर दिया था। जैसे पति-पत्नी से मिलता है—वैसे ही आपने उत्तम व्रत के पालन द्वारा मुक्ति-सुन्दरी को प्राप्त किया है। प्रभो ! मैं भी संसार को नष्ट कर सकूं—ऐसी शक्ति मुझे प्रदान कीजिए।

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी २०वें तीर्थंकर के रूप में अवतरित हुए हैं। इनके इस जन्म की महान उपलब्धियों का आधार भी पूर्व जन्म-जन्मान्तरों का सुसंस्कार-समुच्चय ही था।

पूर्वजन्म

प्राचीन काल में सुरश्रेष्ठ नाम का एक राजा चम्पा नगरी में राज्य करता था जो अपनी धार्मिक प्रवृत्ति, दानशीलता एवं पराक्रम के लिए ख्यातनामा था। सहज ही मे उसने क्षेत्र के समस्त राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार कराली थी और इस प्रकार वह विशाल साम्राज्य की सत्ता का भोक्ता रहा। प्रसंग तब का है जब नन्दन मुनि ने उसके राज्य मे प्रवेश किया था। मुनि उद्यान मे विश्राम करने लगे। राजा सुरश्रेष्ठ को ज्ञात होने पर वह मुनि-दर्शन एवं वन्दन हेतु उद्यान में आया। मुनिश्री की वाणी का उस पर गहरा प्रभाव हुआ। विरक्ति का अति सशक्त भाव उसके मन में उदित हुआ और सांसारिक सम्बन्धों, विषयों एवं भौतिक पदार्थों को वह असार मानने लगा। आत्म-कल्याण के लिए दीक्षा ग्रहण करने के प्रयोजन से राजा ने तुरन्त राज्य-वैभव आदि का त्याग कर दिया और संयम स्वीकार कर लिया। अपनी तपस्याओं के परिणामस्वरूप सुरश्रेष्ठ मुनि ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया एवं अनशन तथा समाधि में देहत्याग कर वे अपराजित विमान में अहमिन्द्र देव बने। संक्षेप में यही भगवान मुनिसुव्रत के पूर्वभव की कथा है।

जन्म-वंश

मगध देश के अन्तर्गत राजगृह नगर नाम का एक राज्य था। उस समय राजगृह में महाराज सुमित्र का शासन था। उनकी धर्मपत्नी महारानी पद्मावती अतीव लावण्यवती एवं सर्वगुणों से सम्पन्न थी। ये ही रानी-राजा भगवान मुनिसुव्रत के

माता-पिता थे। स्वर्ग की सुखोपभोगपूर्ण स्थिति जब समाप्त हुई, तो अपराजित विमान से मुनि सुरश्रेष्ठ के जीव ने प्रस्थान किया और रानी पद्मावती के गर्भ में भावी तीर्थंकर के रूप में अवस्थित हुआ। वह श्रावण शुक्ला पूर्णिमा में श्रवण नक्षत्र का शुभ योग था। उसी रात्रि में रानी १४ दिव्य स्वप्न देखकर जागृत हो गई। पति महाराजा सुमित्र को उसने जब स्वप्न का सारा वृत्तान्त सुनाया तो उन्होंने भावी फलों का रानी को आभास कराया कि वह तीर्थंकर प्रसविनी होगी। अब तो रानी को अपने प्रबल भाग्य पर गर्व होने लगा और वह प्रसन्नता से झूम उठी। गर्भ-काल सानन्द व्यतीत हुआ। ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को श्रवण नक्षत्र ही के श्रेष्ठ योग में उसने एक तेज सम्पन्न पुत्र को जन्म दिया। देव-देवेन्द्र, नर-नरेन्द्र सभी ने भगवान का जन्मोत्सव हर्ष एवं उल्लास के साथ मनाया।

जब कुमार गर्भ में थे; माता ने मुनियों की भाँति सम्यक् रीति से व्रतों का पालन किया था। अतः पिता महाराजा सुमित्र ने कुमार का नाम रखा—मुनिसुव्रत।

गृहस्थ-जीवन

अनन्त वैभव और वात्सल्य के बीच युवराज मुनिसुव्रत का बाल्यकाल व्यतीत हुआ। नाना भाँति की क्रीड़ाएँ करते हुए ये विकसित होते रहे और क्रमशः तेजस्वी व्यक्तित्व के सुन्दर युवक के रूप में निखर आये। २० धनुष ऊंचा उनका बलिष्ठ शरीर शोभा का पुंज था। इस सर्वथा उपयुक्त आयु में महाराज सुमित्र ने अनेक लावण्यवती एवं गुणशीला युवराज्ञियों से भगवान का विवाह सम्पन्न किया। इनमें प्रमुख थी प्रभावती जिसने सुव्रत नाम के पुत्र को जन्म दिया।

जब कुमार मुनिसुव्रत की आयु साढ़े सात हजार वर्ष की हो गयी थी, तब महाराजा सुमित्र ने संयम धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और उन्होंने राजकुमार का राज्याभिषेक कर उन्हें राज्य का समस्त उत्तरदायित्व सौंप दिया। अत्यन्त नीतिज्ञतापूर्वक शासन करते हुए महाराजा मुनिसुव्रत ने अपनी संतति की भाँति प्रजा का पालन और रक्षण किया।

दीक्षाग्रहण व केवलज्ञान

जब उनके शासन के पन्द्रह हजार वर्ष व्यतीत हो चुके थे, उनके मन में कुछ ऐसा अनुभव होने लगा कि भोगफलदायी कर्म अब समाप्त हो गये हैं और उन्हें आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाना चाहिए। तभी लोकान्तिक देवों ने भी उनसे धर्मतीर्थ स्थापन की प्रार्थनाएं कीं। भगवान मुनिसुव्रत ने विरक्ति भाव के साथ अपने पुत्र को समस्त वैभव और सत्ता सौंप दी तथा आप अपूर्व दान कार्य में प्रवृत्त हो गये। यह वर्षीदान था, जो वर्षपर्यन्त अति उदारता के साथ चलता रहा।

दान कार्य सम्पन्न हो चुकने पर देवताओं ने भगवान का दीक्षाभिषेक किया और निष्क्रमणोत्सव आयोजित किया। अपराजिता नामक पालकी द्वारा भगवान नील-

गुहा उद्यान में पधारे, जहाँ सांसारिक विभूति के शेष चिन्ह आभूषण, वस्त्रादि का भी भगवान ने स्वतः परित्याग कर दिया। षष्ठ भक्त तप में उन्होंने एक सहस्र अन्य राजाओं सहित चारित्र स्वीकार किया। भगवान की यह दीक्षा-ग्रहण तिथि फाल्गुन शुक्ला द्वादशी थी व श्रवण नक्षत्र की शुभ बेला थी। भगवान मुनिसुव्रत को चारित्र स्वीकार करते ही मनःपर्यवज्ञान का लाभ हो गया। आगामी दिवस प्रभु का प्रथम पारणा राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ क्षीरान्न के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पाँच दिव्यों की वर्षा कर देवताओं ने दान की महिमा प्रकट की।

पारणा करने के पश्चात् प्रभु ने राजगृही से विहार किया और विविध परीषहों एवं अभिग्रहों को समभाव के साथ झेलते हुए वे ११ मास तक ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे, अनेक विध बाह्य व आन्तरिक तपों और साधनाओं में संलग्न रहे। अन्ततः वे पुनः उसी उपवन में लौटे जो उनका दीक्षास्थल रहा था। वहाँ चम्पा वृक्ष के तले वे ध्यानलीन हो गये। शुक्लध्यान की चरम स्थिति में पहुँचकर भगवान ने सकल घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। परिणामस्वरूप उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी। इन्द्रादिक देव भगवान के अभिनन्दनार्थ एकत्रित हुए। उन्होंने परम उल्लास के साथ भगवान के केवलज्ञान का महोत्सव आयोजित किया।

केवली भगवान मुनिसुव्रत का समवसरण रचा गया और असंख्य नर-नारी आत्म-कल्याण का मार्ग पाने की अभिलाषा से भगवान की प्रथम देशना का श्रवण करने को एकत्रित हुए। इस महत्त्वपूर्ण देशना में भगवान ने मुनि और श्रावक के लक्षणों का विवेचन किया। भगवान की वाणी में अमोघ प्रभाव था। आपके उपदेश से प्रेरित होकर अनेक-जन दीक्षित हो गये, अनेक ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और अनेक ने श्रावकधर्म स्वीकार कर लिया।

परिनिर्वाण

केवली बन जाने के पश्चात् भगवान ने जन-जन को आत्म-कल्याण के मार्गानुसरण हेतु प्रेरित करने का व्यापक अभियान चलाया। इस हेतु वे लगभग साढ़े सात हजार वर्ष तक जनपद में सतत रूप से विचरण करते हुए उपदेश देते रहे अन्ततः अपने मोक्षकाल के समीप आने पर भगवान एक सहस्र मुनिजन सहित सम्मेत शिखर पर पधारे और ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को श्रवण नक्षत्र में अनशनपूर्वक सकल कर्मों का क्षय कर उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी ने कुल ३० हजार वर्ष का आयुष्य पाया था।

धर्म-परिवार

गणधर	१८
केवली	१,८००

मन:पर्यवज्ञानी	१,५००
अवधिज्ञानी	१,८००
चौदह पूर्वधारी	५००
वैक्रियलब्धिधारी	२,०००
वादी	१,२००
साधु	३०,०००
साध्वी	५०,०००
श्रावक	१,७२,०००
श्राविका	३,५०,०००

□□

भगवान नमिनाथ

(चिन्ह—कमल)

कामदेव रूपी मेघ को दूर करने मे महापवन समान, हे नमिनाथजिन ! मेरे पापों को नष्ट करो। इन्द्रगण भी आपकी सेवा करते हैं, आपका शरीर कामदेव के समान सुन्दर है। सम्यक् आगम ही आपके सिद्धान्त हैं और सदा-सर्वदा शाश्वत हैं।

भगवान नमिनाथ स्वामी २१वें तीर्थंकर हुए हैं। आपका अवतरण २०वें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत भगवान के लगभग ६ लाख वर्ष पश्चात् हुआ था।

पूर्वजन्म

पश्चिम विदेह में एक इतिहास-प्रसिद्ध नगरी थी—कौशाम्बी। आदर्श आचरण और न्यायोचित व्यवहार करने वाला नृपति सिद्धार्थ उन दिनों वहाँ राज्य करता था। वह प्रजा-पालन में तन-मन-धन से संलग्न रहता था, किन्तु यह सब कुछ वह मात्र कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए किया करता था। *उसका मन तो अनासक्ति के प्रबल भावों का* केन्द्र था। उसकी चिर-संचित अभिलाषा भी एक दिन पूर्ण हुई। राजा ने सुदर्शन मुनि के पास विधिवत् संयम स्वीकार कर लिया। अपनी उत्कृष्ट तप-साधना के बल पर महाराजा सिद्धार्थ ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। आयु के अन्त में सिद्धार्थ मुनि समाधिपूर्वक देह-त्याग कर अपराजित विमान में ३३ सागर की आयु की आयुष्य वाले देव रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म-वंश

उन दिनो स्वर्ग तुल्य मिथिला नगरी में विजयसेन नाम के नरेश राज्य कर रहे थे। उनकी अत्यन्त शीलवती, सद्‌गुणी रानी का नाम वप्रादेवी था। ये ही भगवान नमिनाथ के माता-पिता थे। सिद्धार्थ मुनि का जीव अपराजित विमान का आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से निकला और रानी वप्रादेवी के गर्भ में भावी तीर्थंकर के रूप में स्थिर हुआ। वह शरदपूर्णिमा के (अश्विन शुक्ला पूर्णिमा) पुनीत रात्रि थी, उस समय अश्विनी नक्षत्र का शुभ योग था। गर्भधारण की रात्रि में रानी वप्रादेवी ने १४ मंगलकारी स्वप्नों का दर्शन किया, जो उसके तीर्थंकर की जननी होने का पूर्व संकेत था। संकेत के आशय को हृदयंगम कर रानी और राजा अतिशय हर्षित हुए।

श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र में ही रानी ने नीलकमल की आभा

एवं गुणों वाले असाधारण लक्षणों से युक्त पुत्र को जन्म दिया । इन्द्र सहित देवगणों ने सुमेरु पर्वत पर भगवान का जन्म-कल्याण महोत्सव मनाया । समस्त प्रजा ने अत्यधिक हर्ष अनुभव किया और राज्य में कई दिनों तक उत्सव मनाये जाते रहे ।

नामकरण

भगवान जब गर्भ मे थे उसी समय शत्रुओं ने मिथिलापुरी को घेर लिया था । राज्य पर बाह्य संकट छा गया था । माता वप्रादेवी ने राजभवन के ऊँचे स्थल पर आकर जो चहुँ ओर एक शीतल दृष्टि का निक्षेप किया तो स्वतः ही सारी शत्रु सेनाएँ नम्र होकर झुक गयी । अतः राजकुमार का नाम 'नमिनाथ' रखा गया ।

गृहस्थ-जीवन

राज-परिवार के सुखद वातावरण मे शिशु नमिकुमार धीरे-धीरे विकसित होने लगे । यथासमय यौवन के क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया । रूप, आकर्षण, तेज, शक्ति, शौर्य आदि पुरुषोचित अनेक गुणों के योग से उनका भव्य व्यक्तित्व निर्मित हुआ था । महाराजा विजयसेन ने राजकुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह कराया । नमिकुमार पत्नियो के साथ सानन्द जीवनयापन करने लगे और अन्त मे महाराजा विजयसेन इन्हें राज्यादि सर्वस्व सौंपकर विरक्त हो गये—उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया ।

महाराजा नमिनाथ मिथिलाधिप हो गये थे । इस रूप मे भी उन्होंने स्वय को अतियोग्य एवं कौशल-सम्पन्न सिद्ध किया । अपनी प्रजा का पालन वे बड़े स्नेह के साथ किया करते थे । उनका ऐसा सुखद शासनकाल ५ हजार वर्ष तक चलता रहा । आत्म-कल्याण की दिशा मे सतत रूप से चिन्तन करते रहना उनकी स्थायी प्रवृत्ति बन गयी थी । वास्तविकता तो यह थी कि पारिवारिक जीवन और शासक-जीवन उन्होंने सर्वथा निर्लिप्त के साथ ही बिताया था । उनकी साध इन विषयों में नहीं थी ।

दीक्षा-ग्रहण : केवलज्ञान

उन्होंने आत्म-कल्याण के लिए सचेष्ट हो जाने व संयम स्वीकार करने के लिए कामना व्यक्त की । उसी समय लोकान्तिक देवों ने भी भगवान से धर्मतीर्थ-प्रवर्तन हेतु विनय की । इससे विरक्ति का भाव और अधिक उद्दीप्त हो उठा । महाराजा नमिनाथ अपने पुत्र सुप्रभ को समस्त अधिकार व सम्पत्ति सौंपकर वर्षीदान करने लगे । सतत रूप से दान की एक वर्ष की अवधि-समाप्ति पर भगवान सहस्राम्रवन मे पधारे । आषाढ़ कृष्णा नवमी को भगवान ने वहाँ एक हजार राजपुत्रों सहित दीक्षा ग्रहण कर ली । मिथिला से प्रस्थान कर अगले ही दिन भगवान वीरपुर पहुँचे जहाँ राजा दत्त के यहाँ प्रथम पारणा हुआ ।

भगवान का साधक जीवन दीर्घ नहीं रहा । उग्र तपश्चर्याओं, दृढ़ साधनाओं के बल पर उन्हें मात्र ९ माह की अवधि में ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी । इस सारी अवधि में वे छद्मस्थरूप में जनपद मे विचरण करते रहे । अनेकानेक उपसर्गों और

परीषहों को धैर्य और समभाव के साथ झेलते रहे, अपनी विभिन्न साधनाओं को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाते रहे। प्रभु अन्ततः दीक्षास्थल (सहस्राम्रवन) पर लौट आये। मोरसली वृक्ष के नीचे उन्होंने छट्ठ भक्त तप किया और ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान के चरम चरण में पहुँच कर प्रभु ने समस्त घातिककर्मों को क्षीण कर दिया और केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर अरिहंत पद को उन्होंने विभूषित किया। वह पवित्र तिथि मृगशिर शुक्ला एकादशी थी।

भगवान का दिव्य समवसरण रचा गया। प्रथम धर्मदेशना का लाभ लेने को असंख्य देवासुर-मानव एकत्रित हुए। अपनी देशना मे उन्होंने 'आगारधर्म' और 'अनगारधर्म' की मर्मस्पर्शी व्याख्या की। असंख्य जन प्रतिबुद्ध हुए। हजारों नर-नारियों ने अनगारधर्म स्वीकार करते हुए संयम ग्रहण किया। लाखों ने 'आगारधर्म' अर्थात् 'श्रावकधर्म' अंगीकार किया। भगवान चतुर्विध संघ स्थापित कर भाव तीर्थंकर कहलाए।

परिनिर्वाण

लगभग ढाई हजार वर्ष तक केवली भगवान नमिनाथ ने जनपद में विचरण करते हुए अपनी प्रेरक शिक्षाओं द्वारा असंख्य भव्यों का कल्याण किया। अन्ततः अपना निर्वाण-समय आया अनुभव कर वे सम्मेत शिखर पधारे, जहाँ एक मास के अनशन व्रत द्वारा अयोगी और शैलेशी अवस्था प्राप्त कर ली। इस प्रकार भगवान ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त दशा में निर्वाण पद को प्राप्त किया। भगवान की निर्वाण तिथि वैशाख कृष्णा दशमी थी, वह शुभ वेला अश्विनी नक्षत्र की थी। निर्वाण-प्राप्ति के समय भगवान नमिनाथ की वय १० हजार वर्ष की थी। वे अपने पीछे विशाल धर्म-परिवार छोड़कर मोक्ष पधारे थे।

धर्म-परिवार

गणधर	१७
केवली	१,६००
मनःपर्यवज्ञानी	१,२०८
अवधिज्ञानी	१,६००
चौदह पूर्वधारी	४५०
वैक्रियलब्धिधारी	५,०००
वादी	१,०००
साधु	२०,०००
साध्वी	४१,०००
श्रावक	१,७०,०००
श्राविका	३,४८,०००

□□

22

भगवान अरिष्टनेमि

[भगवान नेमिनाथ]
(चिन्ह—शंख)

हे भव्यो, तुम विषय-सेवन छोड़कर उन अरिष्टनेमिनाथ को भजो, जिनके अन्तराय रूपी कर्म ही नष्ट हो गये हैं, उन्हीं को प्रणाम करो।

भगवान अरिष्टनेमि का तीर्थंकर-परम्परा में २२वाँ स्थान है। करुणावतार भगवान परदुःख-निवारण हेतु सर्वस्व न्योछावर कर देने वालों में अग्रगण्य थे। शरणागत-वत्सलता, परहित-अर्पणता और करुणा की सद्प्रवृत्तियाँ प्रभु के चरित्र में जन्म-जन्मान्तर से विकसित होती चली आयी थी। भगवान के लिए 'अरिष्टनेमि' और 'नेमिनाथ' दोनों ही नाम प्रचलित हैं।

पूर्वजन्म-वृत्तान्त

भगवान अरिष्टनेमि के पूर्वभवों की कथा बड़ी ही विचित्र है। अचलपुर नगर के राजा विक्रमधन की भार्या धारिणी ने एक रात्रि को स्वप्न में फलों से लदा एक आम्रवृक्ष देखा। उस वृक्ष के लिए स्वप्न में ही एक पुरुष ने कहा कि यह वृक्ष भिन्न-भिन्न स्थानों पर नौ बार स्थापित होगा। स्वप्न-फलदर्शक सामुद्रिकों से यह तो ज्ञात हो गया कि रानी किसी महापुरुष की जननी होगी, किन्तु नौ स्थानों पर आम्रतरु के स्थापित होने का क्या फल है? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया। घोषित परिणाम सत्य सिद्ध हुआ और यथासमय रानी ने एक तेजवान पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम धनकुमार रखा गया। सिंहराजा की राजकन्या धनवती के साथ राजकुमार का विवाह सम्पन्न हुआ।

वन-विहार के समय एक बार युवराज धनकुमार ने तत्कालीन ख्यातिप्राप्त चतुर्विध ज्ञानी वसुन्धर मुनि को देशना देते हुए देखा और उत्सुकतावश वह भी उस सभा में सम्मिलित हो गया। संयोग से महाराजा विक्रमधन (पिता) भी देशना-श्रवणार्थ वहाँ आ गये। महाराजा ने मुनिराज के समक्ष अपनी पत्नी द्वारा देखे गये स्वप्न की चर्चा की और अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उस अनुत्तरित प्रश्न को हल करने का निवेदन किया कि वृक्ष के नौ बार स्थापित होने का आशय क्या है? वसुन्धर मुनि ध्यानस्थ हो गये और उस स्थान से दूर प्रयाण करते हुए केवली भगवान के समक्ष यह समस्या प्रस्तुत की। उत्तर में भगवान अरिष्टनेमि के अवतरण का संकेत उन्हें

मिला। मुनिराज ने विस्तारपूर्वक स्वप्न के उस अंश की व्याख्या करते हुए कहा कि राजन्! तुम्हारा यह पुत्र एक के पश्चात एक भव पार करता हुआ नौवें भव मे तीर्थंकर बनेगा।

यही यथार्थ में घटित भी हुआ। इन्ही माता-पिता के पुत्र रूप में बार-बार धनकुमार ने जन्म लिया। माता-पिता और पुत्र—तीनों के भव परिवर्तित होते रहे और अपने अन्तिम भव मे धनकुमार का जीव २२वें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि के रूप में अवतरित हुआ।

भगवान पर अपने पूर्वजन्मों के सुसंस्कारो का अच्छा प्रभाव था। उसी के बल पर प्रभु करुणावतार कहलाते है। उदाहरण के लिए उनके पूर्वभवों मे ऐसे एक भव का परिचय दिया जा सकता है जब धनकुमार का जीव (जो आगे चलकर अन्तिम भव में अरिष्टनेमि के रूप मे अवतरित हुआ था) अपराजित कुमार के रूप में जन्मा था।

युवराज शौर्य और शक्ति में जितने महान थे उतने ही करुणा और सहानुभूति की भावनाओं से भी परिपूर्ण सुहृदयी थे। अपना समग्र जीवन ही उन्होंने सेवा के महान व्रत का पालन करने मे लगा दिया था। वे विचरणशील ही रहते और जहाँ कहीं कोई सहायता का पात्र उन्हें मिलता त्वरा के साथ वे उसकी सेवा में जुट जाया करते थे।

दीन-दुखियो को आश्रय देना, उनकी रक्षा करना—कुमार अपराजित का स्वभाव ही बन गया था। एक बार का प्रसग है—कुमार अपने एक मित्र के साथ वन-भ्रमण को गये हुए थे। अश्व की पीठ पर आरूढ दोनों मित्रों ने जब खूब भ्रमण कर लिया, तो तृषा शान्त करने के लिए एक शीतल जल-स्रोत पर पहुँचे। कुमार जल से अपनी तृषा बुझाने ही वाले थे कि सहसा कोई आर्त व्यक्ति अतिशय दीनावस्था में आकर उनके चरणों पर गिर पड़ा। वह अत्यन्त आतंकित था, मृत्यु के भय से कांप रहा था। उसने दीन वाणी मे राजकुमार से अपने प्राणों की रक्षा करने की प्रार्थना की। घोर विपत्ति में ग्रस्त जानकर कुमार ने उसे अपनी शरण प्रदान की और अभयदान दिया। उसे धैर्य बँधाया। इसी समय उसी दिशा से सशस्त्र भीड़ आ गयी, जो उस व्यक्ति को ललकार रही थी।

कुछ ही पलो मे जब भीड़ समीप आ गयी तो कुमार को ज्ञात हुआ कि ये लोग समीपस्थ राज्य के कर्मचारी हैं। इन लोगों ने कुमार से कहा कि इस व्यक्ति को हमें सौंप दो। यह घोर अपराधी है। चोरी, डकैती, हत्या आदि के जघन्य अपराध इसने किये है। हमारा राज्य इसे नियमानुसार दण्डित करेगा।

कुमार वास्तव में अब एक गम्भीर समस्या से ग्रस्त हो गये थे। उस व्यक्ति को शरणदान देने के पूर्व ही कुमार के मित्र ने उन्हें सतर्क किया था कि इसे बिना समझे-बूझे शरण देना अनुपयुक्त होगा। कौन जाने यह दुराचारी अथवा घोर अपराधी हो। किन्तु कुमार ने तो उसकी दयनीय दशा देख ली थी, जो उसे शरण में ले लेने का निर्णय करने के लिए पर्याप्त थी। परन्तु जब स्पष्ट हो गया कि शरण में लिया गया व्यक्ति

अनाचारी और दुष्कर्मी है, तो कुमार एक पल के लिए सोचने लगे। उन्होंने सज्जनोचित मर्यादा का पालन करने का ही निश्चय किया और शरणागत की रक्षा करने का पक्ष भारी हो गया। अतः राजकुमार ने विनय के साथ उत्तर दिया—भले ही यह घोर दुष्कर्मी और अपराधी हो, किन्तु मैंने इसे अपना आश्रय दिया है। हम शरण मांगने वाले को न निराश लौटाते हैं, न शरणागत की रक्षा मे कुछ आगा-पीछा सोचते है। हम इसे आप लोगों को नही सौंप सकते।

निदान क्रुद्ध भीड़ हिंसा पर उतारू हो गयी। अपने दण्डनीय अपराधी को रक्षित देखना उसे कब सह्य होता? अतः उसने रक्षक को ही समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया। भयंकर युद्ध छिड़ गया। कुमार अपराजित के पराक्रम, शौर्य और साहस के सामने सशस्त्र सैन्यदल हतप्रभ हो गया। उनके छक्के छूट गये—राजकुमार का पराक्रम देखकर। सेनाधिकारियों ने अपने स्वामी को सूचना दी। यह जानकर कि किसी युवक ने उस अपराधी को शरण दी है और वह अकेला ही हमारे राज्य के विरुद्ध युद्ध कर रहा है—राजा क्रोधित हो गया। वह भारी सेना के साथ संघर्षस्थल पर पहुँचा। राजा ने जब कुमार के अद्भुत शस्त्र-कौशल को देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। जब उसे ज्ञात हुआ कि यह युवक उसके मित्र राजा हरिनन्दी का पुत्र अपराजित कुमार है, तो उसने शस्त्र ही त्याग दिये। युद्ध समाप्त हो गया। अपराधी को क्षमादान दिया गया। कुमार भी परिचित होकर कि यह नरेश उनके पिता के मित्र है—आदर प्रकट करने लगे। राजा कुमार को अपने राजभवन में ले आया—गद्गद् कंठ से उसने कुमार के शौर्य व पराक्रम की प्रशंसा की और उनके साथ अपनी राजकुमारी कनकमाला का विवाह कर दिया।

कुमार अपराजित का विवाह रत्नमाला के साथ भी हुआ था। इस विषय में भी एक कथा प्रचलित है जिससे कुमार का न केवल साहसीपना प्रकट होता है, अपितु कुमार के हृदय की करुणा और असहायजनों की रक्षा का भाव भी उद्भूत होता है। कुमार अपने मित्र विमल के साथ वन-विहार कर रहे थे। प्राकृतिक शोभा को निरख कर उनका मन प्रफुल्लित हो रहा था तभी दूर कहीं से एक करुण पुकार सुनाई दी। नारी कंठ से निसृत वाणी हृदय को हिला देने वाली थी। कोई स्त्री आर्त्तस्वर से रक्षा के लिए सहायता माँग रही है, ऐसा आभास पाते ही दोनों मित्र स्वरागम की दिशा मे तीव्र गति से बढ़ गये। एक स्थल पर घनी वनस्पति के पीछे से क्रूर पुरुष का स्वर सुनाई देने लगा। साथ ही किसी स्त्री की सिसकियों का आभास भी होने लगा। मित्र और कुमार पल भर में ही परिस्थिति का अनुमान लगाने में सफल हो गये और स्त्री की रक्षा के प्रयोजन से वे और आगे बढ़े। तभी उस स्त्री का यह स्वर आया कि मैं केवल अपराजित कुमार को ही पति रूप में वरण करूँगी… तुम कितना ही प्रयत्न कर लो—चाहे मुझे प्राण ही क्यों न देने पड़ें पर तुम्हारी कामना कभी पूरी नहीं हो सकती। कर्कश और क्रूर स्वर मे कोई दुष्ट उसे धमकियाँ दे

रहा था—बोल, तू मुझे पति रूप में स्वीकार करती है या नहीं ? मैं अभी तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा ···। परिस्थिति की कोमलता को देखकर सिंह की भाँति लपक कर कुमार उस स्थान पर पहुँच गये । स्त्री भूमि पर पड़ी थी। लाल-लाल नेत्रों वाला एक बलिष्ठ युवक उस पर तलवार का वार करने ही वाला था कि कुमार ने उसे ललकारा —'ओ कापुरुष ! तुझे लज्जा नहीं आती, एक अबला पर शस्त्र उठाते हुए।'

क्रूर युवक की क्रोधाग्नि में जैसे घी पड़ गया । वह भभक उठा और बोला—सावधान ! हमारे पारस्परिक प्रसंग में तुम हस्तक्षेप मत करो, अन्यथा मेरी तलवार पहले तुम्हारा ही काम तमाम करेगी । यह स्त्री तो अपनी नीचता के कारण आज बच ही नहीं सकेगी ।

युवक तो क्रोधाभिभूत होकर आंय-बांय बकने में ही लगा था और कुमार ने साहस के साथ युवक पर प्रहार कर दिया । असावधान युवक गहरी चोट खाकर तुरन्त भूलुंठित हो गया और चीत्कार करने लगा । उसे गहरे घाव लगे थे । रक्त का फव्वारा छूट गया था । युवक अपनी शक्ति का सारा गर्व भूल गया था ।

राजकुमार इस निश्चेष्ट पड़े युवक को देखता रहा और मन में उठने वाली गूंज को सुनता रहा जो उसे आश्चर्य में डाल रही थी—यह अपरिचिता बाला मुझसे विवाह करने पर दृढ़प्रतिज्ञ कैसे है ? कौन है यह ? सोचते-सोचते कुमार की दृष्टि उस अबला की ओर मुड़ी । अब वह आश्वस्त-सी खड़ी थी । वह कुमार के प्रति मौन धन्यवाद व्यक्त कर रही थी । संरक्षण पाकर वह आतंक-मुक्त हो गयी थी ।

इसी समय दुष्ट युवक को चेत आया । वह अपने गम्भीर घावों की पीड़ा के कारण कराह रहा था । उसका मुख निस्तेज हो चला था । तभी राजकुमार ने उससे प्रश्न किया—कौन हो तुम और इस सुन्दरी बाला को क्यों इस प्रकार परेशान कर रहे हो ? चाहते क्या हो तुम ?

युवक गिड़गिड़ाकर कहने लगा तुमने इस स्त्री पर ही नहीं मुझ पर भी बड़ा ही उपकार किया है । मुझे भयंकर पाप से बचाया है । मैं बड़ा दुष्ट हूँ—मैंने बड़ा ही घोर दुष्कर्म सोचा था । तुम्हारे आ जाने से मैं···क्षणमात्र को रुककर युवक ने एक जड़ी कुमार को दी और कहा कि इसका लेप मेरे घावों पर कर दो । स्वस्थ होकर मैं सारा वृत्तान्त सुना दूंगा । सहृदय कुमार ने उसकी भी सेवा की । जड़ी के प्रयोग से उसे स्वस्थ कर दिया । उसने बाद में जो घटना सुनायी उससे तथ्यों पर यों प्रकाश पड़ा—

यह युवती रत्नमाला जो अनिंद्य सुन्दरी थी एक विद्याधर राजा की कुमारी थी और वह युवक भी एक विद्याधर का पुत्र था । रत्नमाला की रूप-माधुरी पर वह अत्यन्त मुग्ध था । अतः वह उससे विवाह करना चाहता था । उसने अनेकों प्रयत्न किये, किन्तु सफल न हो पाया । किसी भविष्यवक्ता ने राजकुमारी को बताया था

कि उसका विवाह राजकुमार अपराजित के साथ होगा। तभी से वह कुमार की कल्पना में ही खोयी रहती थी। वह भला ऐसी स्थिति में उस विद्याधर के प्रस्ताव को कैसे मान लेती ? युवक ने अन्तिम और भयंकर चरण उठा लिया। छल से उसे वन में ले आया, जहाँ भय दिखाकर वह राजकुमारी को अपनी पत्नी होने के लिए विवश कर देना चाहता था। उसकी योजना थी कि इस अन्तिम प्रयास में भी यदि रत्नमाला अपराजित के साथ विवाह का विचार छोड़कर उसे पति स्वीकार नहीं करे, तो उसे जीवित ही अग्नि में झोंक दिया जाय।

सारी कथा सुनाकर युवक घोर पश्चात्ताप प्रकट करने लगा और कुमार से उनका परिचय पूछने लगा। यह ज्ञात होने पर कि यही राजकुमार अपराजित हैं—वह बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला—कैसा सुन्दर सुयोग है ? कुमार ! अब सँभालिये आप अपनी प्रियतमा को। मेरा उद्धार कर आपने मुझे जिस उपकार-भार से दबा दिया है वह मुझ पर सदा ही बना रहेगा।

इसी समय रत्नमाला के पिता भी अपनी पुत्री की खोज में उधर आ पहुँचे। अपनी पुत्री को सुरक्षित देखकर उनके हर्ष का पारावार न रहा और यह जानकर तो उनका हृदय मानो प्रसन्नता के झूले पर ही झूलने लग गया कि घोर विपत्ति से उनकी पुत्री का उद्धार करने वाले ये कुमार अपराजित ही हैं। और तब विद्याधर राजा ने आते ही अपनी पुत्री के अधरों पर दबी-दबी मुस्कान, मुखमण्डल पर हल्की अरुणिमा और पलकों की विनम्रता देखी। वे उसका सारा रहस्य समझ गये। वे कुमार को राजभवन ले गये और उनका विवाह रत्नमाला से कर दिया।

उल्लेखनीय है कि स्वस्थ होने के बाद प्रसन्नतापूर्वक उस विद्याधर युवक ने कुमार को एक दिव्य मणि, एक दिव्य जड़ी और एक रूप परिवर्तनकारी गुटिका उपहार स्वरूप भेंट की।

इस घटना के कुछ काल अनन्तर विचरणशील कुमार और उनका मित्र दोनों ही श्रीमन्दिरपुर राज्य में पहुँचे। वहाँ की प्रजा पर घोर उदासी और एक अमिट दुःख की छाया देखकर कुमार दुःखित हुए। प्रजा को दुःख-मुक्त करने की लालसा उनके पर-दुःखकातर मन में अंगड़ाइयाँ लेने लगी। उन्होंने पता लगाया कि इस घोर शोक का कारण क्या है। ज्ञात हुआ कि वहाँ के राजा किसी भयंकर रोग से पीड़ित हैं। इस रोग का कोई उपचार नहीं हो पा रहा है।

कुमार अपराजित ने विद्याधर युवक द्वारा भेंट की गयी मणि और जड़ी के प्रयोग से राजा को सर्वथा स्वस्थ कर दिया। सारे राज्य में हर्ष का ज्वार-सा उठ आया। राजा ने अपनी राजकुमारी रम्भा का विवाह कुमार अपराजित के साथ कर दिया। इस प्रकार आभार व्यक्त किया।

पर्यटन व्यस्त राजकुमार और मित्र विमल चलते-चलते एक बार एक नगर में पहुँचे, जहाँ एक सर्वज्ञ केवली मुनि का प्रवचन हो रहा था। प्रवचन सुनकर कुमार ने

विरक्ति की महिमा को गम्भीरता से अनुभव किया। उन्होंने मुनिराज के समक्ष अपनी सहज जिज्ञासा प्रस्तुत की कि क्या हम भी कभी विरक्त हो, संयम स्वीकार कर सकेंगे? मुनि ने भविष्यवाणी की कि राजकुमार तुम २२वें तीर्थंकर होगे और तुम्हारा मित्र विमल प्रथम गणधर बनेगा। इन वचनों से कुमार को आत्मतोष हुआ और वे अपने अभियान पर और आगे अग्रसर हो गये।

कुछ कालोपरान्त कुमार जयानन्द नगर में पहुँचे। यहाँ की राजकुमारी थी— प्रीतिमती, जो रूप के लिए जितनी ख्यातनामा थी उससे भी बढ़कर अपने बुद्धि-कौशल के लिए थी। उन दिनों वहाँ राजकुमारी का स्वयंवर रचा हुआ था। दूर-दूर से अनेक राजा-राजकुमार राजकुमारी प्रीतिमती को प्राप्त करने की लालसा से यहाँ एकत्रित थे। घोषणा यह थी कि जो राजा या राजकुमार राजकुमारी के प्रश्नों के सही-सही उत्तर दे देगा उसी के साथ उसका विवाह कर दिया जायगा।

कुमार अपराजित ने रूप परिवर्तनकारी गुटिका की सहायता से अपना स्वरूप बदल लिया। उन्होंने एक अतिसाधारण से व्यक्ति के रूप में स्वयंवर सभा में जाकर पीछे की पंक्ति में स्थान ग्रहण कर लिया। राजकुमारी प्रश्न करती और उपस्थित राजा-राजकुमार अपनी गर्दन झुकाकर बैठ जाते। किसी में भी उत्तर देने की योग्यता न थी। अन्त में राजकुमारी ने पीछे जाकर उस साधारण से प्रतीत होने वाले युवक की ओर उन्मुख होकर अपना प्रश्न प्रस्तुत किया। अपनी विलक्षण त्वरित बुद्धि से कुमार ने तुरन्त उसका उत्तर दे दिया और राजकुमारी ने उस युवक को वरमाला पहना दी।

कुमार की बुद्धि का तो सभी ने लोहा माना, किंतु शूरवीर और वैभवशाली राजागण यह सहन नहीं कर पाये कि उनके होते हुए राजकुमारी किसी दीन-दुर्बल साधारण से व्यक्ति का वरण करे। प्रतिक्रियास्वरूप तथाकथित पराक्रमी नरेशों ने शस्त्र धारण कर लिये। कुमार अपराजित भी इस कला में कहाँ पीछे थे? घोर युद्ध आरम्भ हो गया। सारा सरस वातावरण बीभत्स हो उठा। बुद्धि के स्थान पर अब इस स्थल पर बल के करतब दिखाये जाने लगे। अपराजित कुमार ने बुद्धि का कौशल दिखा चुकने के पश्चात् अपना पराक्रम-प्रदर्शन प्रारम्भ किया तो सभी दंग रह गये। इस कौशल से यह छिपा न रह सका कि साधारण-सा दिखाई देने वाला यह युवक कुमार अपराजित है। मनोनुकूल शूरवीर और बुद्धिमान पति प्राप्त कर राजकुमारी प्रीतिमती का मन-मयूर नाच उठा। दोनों का विवाह पूर्ण उल्लास और उत्साह के साथ सम्पन्न हो गया।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुमार अपराजित और प्रीतिमती का दाम्पत्य संबंध अनेक पूर्वभवों में भी रह चुका था और अपने नौवें (आगामी) भव में भी जब अपराजित कुमार भगवान अरिष्टनेमि के रूप में जन्मे तो उनका स्नेह-सम्बन्ध किसी रूप में राजीमती के स्वरूप में प्रीतिमती से रहा।

निदान, परोपकार अभियान पर निकले कुमार अपराजित अपनी राजधानी लौट आये। बुद्धि और बल का अद्वितीय कौशल जो कुमार ने अपने इस प्रवास में दिखाया, उससे राज्य भर में हर्ष और कुमार के परोपकारों के कारण गर्व का भाव व्याप्त हो गया। पुत्र-वियोग मे माता-पिता के दुखित हृदय आनंदित हो उठे। महाराज हरिनंदी अब वृद्ध भी हो चुके थे। उन्होंने कुमार का राज्याभिषेक कर सत्तादि उन्हें सौंपकर आत्म-कल्याणार्थ साधना का मार्ग अपना लिया।

महाराज होकर अपराजित अपरिमित सुखों एवं वैभव के उपभोगाधिकारी तो हो गये थे, किंतु किसी भी प्रकार उनका मन सांसारिक विषयों मे नहीं लग पाया। वे उदासीन रहने लगे। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि उनके जीवन का प्रयोजन इन मिथ्या-जालों मे उलझना नहीं, अपितु जन-कल्याण करना है—उन्हें संसार को मोक्ष का मार्ग दिखाना होगा। उनकी शासन-दक्षता ने राज्य भर में सुख का साम्राज्य स्थापित कर दिया था। महाराजा को इसका प्रमाण यह देखकर मिल गया कि उद्यान में सुन्दर मूल्यवान वस्त्राभूषण धारण कर एक साधारण सार्थवाह पुत्र प्रसन्नचित्तता के साथ विचरण कर रहा था। किंतु अगले ही दिन उन्हें जीवन की नश्वरता का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया, जब उन्होंने उसी युवक की शवयात्रा देखी। संसार का वैभव, शक्ति, रूप कोई भी जीवन की रक्षा नहीं कर सकता। उनका मन एकदम उदास और दुखी हो उठा। रानी प्रीतिमती ने राजा की उदासी का कारण सुना तो वह भी संसार के प्रति विरक्त हो गयी। दोनों ही ने संयम स्वीकार कर लिया और उग्र तपश्चर्या में लग गये—कठोर साधनाएँ करने लगे।

दोनों को स्वर्ग-प्राप्ति हुई, वहाँ भी उनका स्नेह सम्बन्ध ज्यों का त्यों ही बना रहा। स्वर्गिक सुखोपभोग की अवधि समाप्त होने पर मुनि अपराजित का जन्म शंख के रूप में और प्रीतिमती का जन्म उनकी रानी यशोमती के रूप में हुआ। अपनी साधना के बल पर अंततः शंखराजा का जन्म अपराजित विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान अरिष्टनेमि : जन्म-वंश

यमुना तट पर स्थित शौर्यपुर नामक एक राज्य था, जहाँ किसी समय महाराज समुद्रविजय का शासन था। दशार्ह कहलाने वाले ये १० भ्राता थे और महाराजा समुद्रविजय इनमें ज्येष्ठतम थे। अतः ये प्रथम दशार्ह कहलाते थे। गुण-रूप-सम्पन्ना रानी शिवादेवी इनकी पत्नी थी। स्पष्ट है कि महाराजा विक्रमधन ही इस भव में महाराजा समुद्रविजय थे और महारानी धारिणी का जीव ही इस भव में शिवादेवी के रूप में जन्मा था।

अपराजित विमान की स्थिति पूर्ण कर शंखराजा का जीव कार्तिक कृष्णा द्वादशी को स्वर्ग से निकलकर महारानी शिवा देवी के गर्भ में अवस्थित हुआ। तीर्थंकर के

गर्भस्थ हो जाने की सूचना देने वाले १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन रानी ने उसी रात्रि में किया और राजदम्पत्ति हर्ष विभोर हो उठे। श्रावण शुक्ला पंचमी को रानी ने सुखपूर्वक नीलमणि की कांति वाले एक सलोने पुत्र को जन्म दिया। ५६ दिक्कुमारियों और देवों ने सुमेरु पर्वत पर भगवान का जन्म कल्याणोत्सव मनाया। गर्भकाल में माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र—नेमि देखा था और राजपरिवार समस्त अरिष्टों से बचा रहा अतः नवजात पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा गया।

महाराज समुद्रविजय का नाम यादव कुल के प्रतापी सम्राटों में गिना जाता है। इनके एक अनुज थे—वसुदेव। वसुदेव की दो रानियाँ थीं। बड़ी का नाम रोहिणी था जिनके पुत्र का नाम बलराम या बलभद्र था और छोटी रानी देवकी थी जो श्रीकृष्ण की जननी थी। यादव वंश में ये तीनों राजकुमार श्रीकृष्ण, बलराम और अरिष्टनेमि अपनी असाधारण बुद्धि और अपारशक्ति एवं पराक्रम के लिए विख्यात थे। जरासंध इस समय का प्रतिवासुदेव था। इधर अत्याचारी कंस का विनाश श्रीकृष्ण ने दुष्ट-दलन प्रवृत्ति का परिचय देते हुए किया ही था और उधर प्रतिवासुदेव जरासंध ने इसका प्रतिशोध लेने के बहाने संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। जरासंध ने यादव कुल के ही सर्वनाश का विचार कर लिया था। अतः भारत के पश्चिमी तट पर नया नगर 'द्वारिका' बसाकर कृष्ण स-परिवार वहाँ रहने लगे। इस समय अरिष्टनेमि की आयु कोई ४-५ वर्ष की रही होगी। इस प्रकार भगवान अरिष्टनेमि का जन्म उत्तर भारत में यमुना तट पर हुआ था, किंतु अधिकांश जीवन पश्चिमी भारत में ही व्यतीत हुआ। वहीं उन्होंने अलौकिक बाल-लीलाएँ भी कीं।

बाल-लीलाएं

कुमार अरिष्टनेमि जन्म से ही अवधिज्ञान के धारक थे, किंतु सामान्य बालकोचित लीलाधारी बने रहे। वैसे उनके प्रत्येक कार्य से मति-सम्पन्नता और अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता था। माता-पिता और अन्य सभी—जो भी उनके कार्यों को देखता, इसी अनुमान पर पहुँचता था कि भविष्य में यह बालक बड़ा शक्तिशाली और पराक्रमी निकलेगा। उनका कोई काम ऐसा न होता था कि जिसे देखने वाले आश्चर्यचकित न हो जायँ।

राजमहल में एक बार बालक अरिष्टनेमि खेल रहे थे। कौतुकवश उन्होंने मोतियों की मुट्ठियाँ भर-भर कर आँगन में उछाल दिया। माता शिवादेवी बालक के इस अनुचित काम पर उन्हें बुरा-भला कहना ही चाहती थीं कि उन्होंने देखा कि जहाँ-जहाँ मोती गिरे थे, वहाँ-वहाँ सुन्दर वृक्ष उग आये हैं जिन पर मुक्ता-राशियाँ लदी हुई हैं। एक-बारगी वे आश्चर्य-सागर में निमग्न हो गयीं। कुछ पलों बाद उन्होंने बालक से कहा कि और मोती बो दो। भगवान ने उत्तर दिया—"समय पर बोये हुए मोती ही फलदायी होते हैं।" तब से यह एक सूक्ति, एक कहावत हो गयी है जो यहाँ प्रचलित है।

जरासंध ने अपना प्रतिशोध पूर्ण करने के लिए द्वारिका पर आक्रमण कर दिया था। श्रीकृष्ण ने अपूर्व साहस और शौर्य के साथ युद्ध किया। कुमार अरिष्टनेमि भी इस युद्ध में गये। उनमें इतनी शक्ति थी कि वे चाहते तो अकेले ही जरासंध का संहार कर देते, किंतु यह वे भलीभाँति जानते थे कि प्रतिवासुदेव (जरासंध) का वध वासुदेव (श्रीकृष्ण) के हाथों ही होना चाहिए। अतः जरासंध का वध श्रीकृष्ण के द्वारा ही हुआ। अरिष्टनेमि इस युद्ध में सम्मिलित अवश्य हुए, किंतु उन्होंने किसी का भी वध नहीं किया था।

अद्‌भुत शक्तिमत्ता

कुमार अरिष्टनेमि अद्वितीय शक्तिशाली थे। अभी वे युवा भी न हो पाये थे कि एक बार श्रीकृष्ण के शस्त्रागार में पहुँच गये। वहाँ उन्होने श्रीकृष्ण का कांतिपूर्ण सुदर्शन चक्र देखा, जिसके विषय में उन्हें वहाँ कहा गया कि इस चक्र को वासुदेव श्रीकृष्ण ही उठा सकते हैं; और किसी में तो इसे छूने तक की शक्ति नही है। यह सुन कर कुमार ने उसे देखते ही देखते उँगली पर उठा लिया और चक्रित कर दिया। आयुधशाला के सभी कर्मचारी हड़बड़ा कर बोल उठे—रुक जाइये कुमार! रुक जाइये, अन्यथा भयंकर अनर्थ हो जायगा। और कुमार ने चक्र को यथास्थान रख दिया। अब वे आयुधशाला को घूम-घूमकर देखने लगे। तभी पांचजन्य शंख पर उनकी दृष्टि गई। उन्होंने उसे उठाकर फूंका। दिव्य शंखध्वनि से द्वारिकापुरी गूँज उठी। श्रीकृष्ण को बड़ा विस्मय हुआ। उनके अतिरिक्त कोई अन्य पांचजन्य को निनादित नहीं कर सकता था अतः उन्हें शंका हुई कि क्या कोई अन्य वासुदेव जन्म ले चुका है। लपककर वे आयुधशाला में आये और जो कुछ देखा, उससे उनके विस्मय का कोई पार नहीं रहा। कुमार अरिष्टनेमि उनके धनुष शारंग को टंकार रहे थे। श्रीकृष्ण को कुमार की अद्‌भुत बलशीलता का परिचय मिल गया।

श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा कि मैं तुम्हारे बाहुबल की परीक्षा करना चाहता हूँ। दोनों व्यायामशाला में पहुँचे। यादव कुल के अनेक जन यह कौतुक देखने को एकत्रित हो गये। श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा फैलाई और कुमार से कहा कि इसे नीचे झुकाओ। कुमार ने क्षणमात्र में ही मृणालिनी की भाँति कृष्ण की भुजा को नमित कर दिया। यह देखकर एकत्रित जनसमुदाय गद्‌गद कंठ से कुमार की प्रशंसा करने लगे। अब श्रीकृष्ण की बारी थी। अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा ऊँची की। श्रीकृष्ण उसे झुकाने का उपक्रम करने लगे। उन्होंने अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर लिया, वे भुजा पर अपने दोनों हाथों से झूल गये, किंतु अरिष्टनेमि की भुजा थी कि रंचमात्र भी झुकी नहीं।

इस होड़ में पिछड़ जाने पर व्यक्त रूप से तो श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि की शक्ति की प्रशंसा की, किंतु मन ही मन कुछ क्षोभ भी हुआ। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कुमार की इस अतुल शक्ति का कारण उनका ब्रह्मचर्य है।

माता-पिता अन्य स्वजनों ने कुमार अरिष्टनेमि से पहले भी विवाह कर लेने का आग्रह कई-कई बार किया था, किंतु वे कुमार से इस विषय में स्वीकृति नहीं ले पाये। अतः वे सब निराश थे। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने एक नयी युक्ति की। उन्होंने अपनी रानियों से किसी प्रकार अरिष्टनेमि को मनाने के लिए कहा।

श्रीकृष्ण से प्रेरित होकर रानियों ने एक मनमोहक सरस फाग रचा। अरिष्टनेमि को भी उसमें सम्मिलित किया गया। रानियों ने इस अवसर पर अनेकविध प्रयत्न किये कि कुमार के मन में कामभावना को जाग्रत कर दें और उन्हें किसी प्रकार विवाह के लिए उत्सुक करें, किंतु इस प्रकार उन्हें सफलता नहीं मिली। तब रानियाँ बड़ी निराश हुईं और कुमार से प्रार्थना करने लगीं कि हमारे यदुकुल में तो साधारण वीर भी कई-कई विवाह करते हैं। आप वासुदेव के अनुज होकर भी अब तक अविवाहित हैं। यह वंश की प्रतिष्ठा के योग्य नहीं है। अतः आपको विवाह कर ही लेना चाहिए। रानियों की इस दीन प्रार्थना पर कुमार किंचित् मुस्कुरा पड़े थे, बस ; रानियों ने घोषित कर दिया कि कुमार अरिष्टनेमि ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है।

राजीमती से विवाह उपक्रम

सत्यभामा की बहन राजीमती को कुमार के लिए सर्व प्रकार से योग्य कन्या पाकर श्रीकृष्ण ने कन्या के पिता उग्रसेन से इस सम्बन्ध में प्रस्ताव किया। उग्रसेन ने इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया। कुमार अरिष्टनेमि ने इन प्रयत्नों का विरोध नहीं किया और न ही वाचिक रूप से उन्होंने अपनी स्वीकृति दी।

यथासमय वर अरिष्टनेमि की भव्य बारात सजी। अनुपम शृंगार कर वस्त्राभूषण से सजाकर दूल्हे को विशिष्ट रथ पर आरूढ़ किया गया। समुद्रविजय सहित समस्त दशार्ह, श्रीकृष्ण, बलराम और समस्त यदुवंशी उल्लसित मन के साथ सम्मिलित हुए। बारात की शोभा शब्दातीत थी। अपार वैभव और शक्ति का समस्त परिचय यह बारात उस समय देने लगी थी। स्वयं देवताओं में इस शोभा का दर्शन करने की लालसा जागी। सौधर्मेन्द्र इस समय चिन्तित थे। वे सोच रहे थे कि पूर्व तीर्थंकर ने तो २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि स्वामी के लिए घोषणा की थी कि ये बालब्रह्मचारी के रूप में ही दीक्षा लेंगे। फिर इस समय यह विपरीताचार कैसा ? उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा पता लगाया कि वह घोषणा विफल नहीं होगी। वे किञ्चित् तुष्ट हुए किन्तु ब्राह्मण का वेष धारण कर बारात के सामने आ खड़े हुए और श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि कुमार का विवाह जिस लग्न में होने जा रहा है वह महा अनिष्टकारी है। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण को फटकार दिया। तिरस्कृत होकर ब्राह्मण वेषधारी सौधर्मेन्द्र अदृश्य हो गये, किन्तु यह चुनौती दे गये कि आप अरिष्टनेमि का विवाह कैसे करते हैं ? हम भी देखेंगे।

बारात गन्तव्य स्थल के समीप पहुँची। इस समय वधू राजीमती अत्यन्त व्यग्र

मन से वर-दर्शन की प्रतीक्षा में गवाक्ष में बैठी थी। राजीमती अनुपम, अनिद्य सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य पर देवबालाएँ भी ईर्ष्या करती थीं और इस समय तो उसके आभ्यन्तरिक उल्लास ने उसकी रूप-माधुरी को सहस्रगुना कर दिया था। अशुभ शकुन से सहसा राजकुमारी चिंता सागर मे डूब गयी। उसकी दाहिनी आँख और दाहिनी भुजा जो फड़क उठी थी। वह भावी अनिष्ट की कल्पना से काँप उठी। इस विवाह में विघ्न की आशंका उसे उत्तरोत्तर बलवती होती प्रतीत हो रही थी। उसके मानसिक रंग में भंग तो अभी से होने लग गया था। सखियों ने उसे धैर्य बँधाया और आशंकाओं को मिथ्या बताया। वे बार-बार उसके इस महाभाग्य का स्मरण कराने लगी कि उसे अरिष्टनेमि जैसा योग्य पति मिल रहा है।

बारात का प्रत्यावर्तन

बारात ज्यों-ज्यो आगे बढ़ती थी, सबके मन का उत्साह भी बढ़ता जाता था। उग्रसेन के राजभवन के समीप जब बारात पहुँची कुमार अरिष्टनेमि ने पशु-पक्षियों का करुण क्रन्दन सुना और उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होने सारथी से इस विषय में जब पूछा तो उससे उन्हें ज्ञात हुआ कि इस समीप के अहाते मे अनेक पशु-पक्षियों को एकत्रित कर रखा है। उन्हीं की चीख-चिल्लाहट का यह शोर है। कुमार के प्रश्न के उत्तर मे उसने यह भी बताया कि उनके विवाह के उपलक्ष में जो विशाल भोज दिया जायेगा उसमें इन्हीं पशु-पक्षियो का मांस प्रयुक्त होगा। इसी हेतु इन्हें पकड़ा गया है। इस पर कुमार के मन में उत्पन्न करुणा और अधिक प्रबल हो गई। उन्होंने सारथी से कहा कि तुम जाकर इन सभी पशु-पक्षियों को मुक्त कर दो। आज्ञानुसार सारथी ने उन्हें मुक्त कर दिया। प्रसन्न होकर कुमार ने अपने वस्त्रालंकार उसे पुरस्कार में दे दिये और तुरंत रथ को द्वारिका की ओर लौटा लेने का आदेश दिया।

रथ को लौटता देखकर सबके मन विचलित हो गये। श्रीकृष्ण, समुद्रविजय आदि ने उन्हें बहुत रोकना चाहा, किंतु अरिष्टनेमि नहीं माने। वे लौट ही गये।

यह अशुभ समाचार पाकर राजकुमारी राजीमती तो मूर्च्छित ही हो गई। सचेत होने पर सखियाँ उसे दिलासा देने लगीं। अच्छा हुआ कि निर्मम अरिष्टनेमि से तुम्हारा ब्याह टल गया। महाराजा तुम्हारे लिए कोई अन्य योग्यवर वर ढूंढेंगे। किन्तु राजकुमारी को ये वचन बाण से लग रहे थे। वह तो अरिष्टनेमि को मन से अपना पति मान चुकी थी। अब किसी अन्य पुरुष की कल्पना को भी मन में स्थान देना वह पाप समझती थी। उसने सांसारिक भोगों को तिलांजलि दे दी।

दीक्षा-केवलज्ञान

अरिष्टनेमि के भोगकर्म अब शेष न रहे थे। वे विरक्त होकर आत्मकल्याणार्थ संयम ग्रहण करने की इच्छा करने लगे। तभी लोकान्तिक देवों ने उनसे धर्मतीर्थ प्रवर्तन की प्रार्थना की। कुमार अब वर्षीदान में प्रवृत्त हो गये। अपार दान कर वे

भर तक वे याचकों को तुष्ट करते रहे। तब भगवान का निष्क्रमणोत्सव मनाया गया। देवतागण भी इसमें सोत्साह सम्मिलित हुए। समारोह के पश्चात् रत्नजटित उत्तरकुरु नामक सुसज्जित पालकी में बैठकर उन्होंने निष्क्रमण किया। इस शिविका को राजा-महाराजाओं और देवताओं ने मिलकर उठाया था।

उज्जयंत पर्वत के सहस्राम्रवन में अशोक वृक्ष के नीचे समस्त वस्त्रालंकारों का भगवान ने परित्याग कर दिया। इन परित्यक्त वस्तुओं को इंद्र ने श्रीकृष्ण को समर्पित किया था। भगवान ने तेले की तपस्या से पंचमुष्टि लोच किया और शक्र ने उन केशों को अपने उत्तरीय में संभाल कर क्षीर सागर में प्रवाहित कर दिया। सिद्धों की साक्षी में भगवान ने सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा पाठ किया और १००० पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। यह स्मरणीय तिथि श्रावण शुक्ला षष्ठी और वह शुभ वेला थी चित्रा नक्षत्र की। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान नेमिनाथ को मन:पर्यवज्ञान की प्राप्ति हो गई थी।

आगामी दिवस गोष्ठ में वरदत्त नामक ब्राह्मण के यहाँ प्रभु ने अष्टमतप का परमान्न से पारणा किया। देवताओं ने ५ दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा व्यक्त की। तदनंतर समस्त घातिककर्मों के क्षय के लिए कठोर तप के संकल्प के साथ भगवान ने वहाँ से प्रस्थान किया।

५४ दिन छद्मस्थचर्या में रहकर भगवान विभिन्न प्रकार के तप करते रहे और फिर उसी उज्जयंत गिरि, अपने दीक्षा-स्थल पर लौट आए। वहाँ अष्टम तप में लीन हो गए। शुक्लध्यान से भगवान ने समस्त घातिकर्मों को क्षीण कर दिया और आश्विन कृष्ण अमावस्या की अर्धरात्रि से पूर्व, चित्रा नक्षत्र के योग में केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया।

समवसरण : प्रथम देशना

भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होते ही सर्वलोकों में एक प्रकाश व्याप्त हो गया। आसन कम्प से इंद्र को इसकी सूचना हुई। वह देवताओं सहित भगवान की वंदना करने को उपस्थित हुआ। देवताओं ने भगवान के समवसरण की रचना की। संदेश श्रीकृष्ण के पास भी पहुँचा और संदेशवाहकों को उन्होंने प्रसन्न होकर पुरस्कृत किया। एक करोड़ यादववंशियों सहित श्रीकृष्ण, दसों दशार्ह, देवकी आदि माताओं, बलभद्र आदि बंधुओं और १६ हजार राजाओं के साथ समवसरण में सम्मिलित हुए। वे सभी अपने वाहनों और शस्त्रों को त्यागकर समवसरण में प्रविष्ट हुए। स्फटिक आसन पर विराजित प्रभु पूर्वाभिमुखी थे, किंतु तीर्थंकरत्व के प्रभाव से उनका मुख सभी दिशाओं से दृश्यमान था।

भगवान ने वार्तालाप की सहज भाषा में दिव्य देशना दी और अपने अलौकिक ज्ञानालोक से भव्यों के अज्ञानान्धकार को विदीर्ण कर दिया। प्रभु की विरक्ति-उत्प्रेरक वाणी से प्रभावित होकर सर्वप्रथम राजा वरदत्त ने प्रभु चरणों में तत्काल ही दीक्षा

ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् दो हजार क्षत्रियों ने दीक्षा ले ली। अनेकों ने श्रमण दीक्षा ग्रहण की। अनेक राजकन्याओं ने भी भगवान के चरणों मे दीक्षा ली। इनमें से यक्षिणी आर्या को भगवान ने श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी बनाया। दशों दशार्ह, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न आदि ने श्रावकधर्म और माता शिवादेवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी आदि ने श्राविकाधर्म स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना कर भावतीर्थ की गरिमा से विभूषित हुए।

राजीमती द्वारा प्रव्रज्या

राजीमती प्रियतम के वियोग मे अतिशय कष्टमय समय व्यतीत कर रही थी। भगवान के केवली हो जाने के शुभ संवाद से वह हर्ष विह्वल हो उठी। उसने सांसारिक सुखों को तो त्याग ही दिया था। अब वह पति के मार्ग पर अग्रसर होने को कृत संकल्प हो गयी। दुःखी माता-पिता से जैसे-तैसे उसने अनुमति ली और केश-लुंचन कर संयम स्वीकार कर लिया। स्वयं दीक्षा ग्रहण कर लेने पर उसने अन्य अनेक स्त्रियों को दीक्षा की दी। अनेक साध्वियों के साथ वह भगवान के चरणों की वन्दना के लिए चल पड़ी। इस समय केवली भगवान रेवताचल पर विराजित थे।

मार्ग मे सहसा वर्षा के कारण ये सभी साध्वियां और राजीमती भीग गयीं। वे अलग-अलग कंदराओं मे शरण के लिए गयीं। राजीमती ने कन्दरा में जाकर अपने भीगे वस्त्र उतार कर सुखा दिये। तभी कामोत्तेजित रथनेमि पर उसकी दृष्टि पड़ी। रथनेमि पहले भी राजकुमारी राजीमती से विवाह करने का इच्छुक था, किन्तु राजीमती ने उसकी इच्छा को ठुकरा दिया। यहाँ रथनेमि ने कुत्सित प्रस्ताव राजीमती के समक्ष रखा। इस समय रथनेमि भी संयम स्वीकार किये हुए थे। राजीमती ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा कि त्यागे हुए विषयों को पुनः स्वीकार करते तुम्हें लज्जा नहीं आती? धिक्कार है तुम्हें!

राजीमती की इस फटकार से रथनेमि का विचलित मन पुनः धर्म में स्थिर हो गया। भगवान के चरणों में पहुँचकर रथनेमि ने अपने पापों को स्वीकार किया व आलोचना प्रतिक्रमण के माध्यम से आत्म-शुद्धि की। कठोर तप से उसने कर्मों को नष्ट किया और अन्ततः वह शुद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गया। भगवान की वन्दना कर राजीमती ने भी कठोर तप, व्रत, साधनादि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया और निर्वाण पद का उसे लाभ हुआ।

लोकहितकारी उपदेश

भगवान लगभग ७०० वर्षों तक केवली पर्याय में विचरण करते रहे और अपनी दिव्य वाणी से लोकहित करते रहे। भगवान का विहार क्षेत्र प्रायः सौराष्ट्र ही था। संयम, अहिंसा, करुणा आदि के आचरण के लिए प्रभु अपने उपदेशों द्वारा प्रभावी रूप से प्रेरित करते रहते थे। यादव जाति ने इस काल में पर्याप्त उत्थान कर लिया

था, किन्तु मांसाहार और मदिरा की दुष्प्रवृत्तियों में वह ग्रस्त थी। इन प्रवृत्तियों को विनाश का कारण बताते हुए उन्होने अनेक प्रसंगो पर यादव जाति को सावधान किया था।

भविष्य-कथन

विचरण करते हुए एक बार प्रभु का आगमन द्वारिका मे हुआ। श्रीकृष्ण भगवान की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होने अपने मन की सहज जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए द्वारिका नगरी के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि यह स्वर्गोपम पुरी ऐसी ही बनी रहेगी या इसका भी ध्वंस होगा ?

भगवान ने भविष्यवाणी करते हुए कहा कि शीघ्र ही यह सुन्दर नगरी मदिरा, अग्नि और ऋषि—इन तीन कारणो से विनष्ट हो जायगी।

श्रीकृष्ण को चिन्तामग्न देखकर प्रभु ने इस विनाश से बचने का उपाय भी बताया। उन्होंने कहा कि कुछ उपाय है, जिनसे नगरी को अमर तो नही बनाया जा सकता किन्तु उसकी आयु अवश्य ही बढ़ायी जा सकती है। ये उपाय ऐसे हैं जो सभी नागरिकों को अपनाने होंगे। संकट का पूर्ण विवेचन करते हुए भगवान ने कहा कि कुछ मद्यप यादव कुमार द्वैपायन ऋषि के साथ अभद्र व्यवहार करेंगे। ऋषि क्रोधावेश में द्वारिका को भस्म करने की प्रतिज्ञा करेंगे। काल को प्राप्त कर ऋषि अग्निदेव बनेंगे और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। (यदि नागरिक मांस-मदिरा का सर्वथा त्याग करें और तप करते रहें तो नगर की सुरक्षा संभव है।)

श्रीकृष्ण ने द्वारिका मे मद्यपान का निषेध कर दिया और जितनी भी मदिरा उस समय थी, उसे जगलों मे फेंक दिया गया। सभी ने सर्वनाश से रक्षा पाने के लिए मदिरा का सर्वथा त्याग कर दिया और यथा-सामर्थ्य तप में प्रवृत्ति रखने लगे।

समय व्यतीत होता रहा और भगवान की चेतावनी से लोगों का ध्यान हटता रहा। जनता असावधान होने लगी। संयोग से कुछ यादव कुमार कादम्बवन की ओर विहारार्थ गये थे। वहाँ उन्हें पूर्व में फेंकी गयी मदिरा कहीं शिलासंधियो में सुरक्षित मिल गयी। उन्हें तो आनन्द ही आ गया। छक कर मदिरा पान किया और फिर उन्हें विचार आया द्वैपायन ऋषि का; जो द्वारिका के विनाश के प्रधान कारण बनने वाले है। उन्होंने निश्चय किया कि ऋषि का ही आज वध कर दिया जाय। नगरी इससे सुरक्षित हो जायगी।

इन मद्यप युवकों ने ऋषि पर प्रहार कर दिया। प्रचण्ड क्रोध से अभिभूत द्वैपायन ने इनके सर्वनाश की प्रतिज्ञा करली। भविष्यवाणी के अनुसार ऋषि मरणोपरान्त अग्निदेव बने, किन्तु वे द्वारिका की कोई भी हानि नहीं कर पाये, क्योंकि उस नगरी में कोई न कोई जन तप करता ही रहता था और अग्निदेव का वश ही नहीं चल पाता। धीरे-धीरे सभी निश्चिन्त हो गये कि अब कोई खास आवश्यकता नहीं है और सभी ने तप त्याग दिया। अग्निदेवता को ११ वर्षों के बाद अब अवसर मिला।

शीतल जल-वर्षा करने वाले मेघों का निवास-स्थल यह स्वच्छ व्योम तब अग्निवर्षा करने लगा। सर्व भाँति समृद्ध द्वारिका नगरी भीषण ज्वालाओं से भस्म समूह के रूप में ही अवशिष्ट रह गयी। मदिरा अन्ततः द्वारिका के विनाश में प्रधान रूप से कारण बनी।

परिनिर्वाण

जीवन के अन्तिम समय में भगवान अरिष्टनेमि ने उज्जयन्त गिरि पर ५३६ साधुओं के साथ अनशन कर लिया। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी की मध्य रात्रि में, चित्रा नक्षत्र के योग में आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का नाश कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान अरिष्टनेमि की आयु एक हजार वर्ष की थी।

धर्म-परिवार

गणधर	१८
केवली	१,५००
मनःपर्यवज्ञानी	१,०००
अवधिज्ञानी	१,५००
चौदह पूर्वधारी	४००
वैक्रिय लब्धिधारी	१,५००
वादी	८००
साधु	१८,०००
साध्वी	४०,०००
श्रावक	१,६६,०००
श्राविका	३,३६,०००
अनुत्तरगति वाले	१,६००

१,५०० श्रमण और ३,००० श्रमणियाँ कुल ४५०० अन्तेवासी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

□□

भगवान पार्श्वनाथ

(चिन्ह—*नाग*)

जो संसार रूपी पृथ्वी को विदारने में हल के समान हैं, जो नील वर्ण शरीर से सुशोभित हैं और पार्श्व यक्ष जिनकी सदा सेवा करता है—ऐसे वामा-देवी के नन्दन श्री पार्श्व प्रभु में मेरी उत्साहयुक्त भक्ति हो, जैसे नील कमल में भ्रमर की भक्ति होती है।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी २३वें तीर्थंकर हुए हैं। उनका समग्र जीवन ही 'समता' और करुणा का मूर्तिमंत रूप था। अपने प्रति किये गये अत्याचार और निर्मम व्यवहार को विस्मृत कर अपने साथ वैमनस्य का तीव्र भाव रखने वालों के प्रति भी सहृदयता, सद्भावना और मंगल का भाव रखने के आदर्श का अनुपम चित्र भगवान का चरित प्रस्तुत करता है। यह किसी भी मनुष्य को महान् बनाने की क्षमता रखने वाली आदर्शावली भगवान की जन्म-जन्मान्तर की सम्पत्ति थी। उनके पूर्वभवों के प्रसंगों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

भगवान का अवतरण-काल ईसापूर्व ९-१०वीं शती माना जाता है। वे इतिहास-चर्चित महापुरुष हैं। २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी से केवल ढाई-तीन सौ वर्ष पूर्व ही भगवान पार्श्वनाथ स्वामी हुए हैं। "आर्यों के गंगा-तट एवं सरस्वती-तट पर पहुँचने से पूर्व ही लगभग २२ प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके पश्चात् पार्श्व हुए और उन्हें अपने उन सभी पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिए हुए पहले हो चुके थे।" भारतीय इतिहास 'एक दृष्टि' ग्रन्थ में गंभीर गवेषणा के साथ डॉ० ज्योतिप्रसाद के उपर्युक्त विचार भगवान के मानसिक उत्कर्ष का परिचय देते हैं।

जैनधर्म के उद्गम में भगवान की कितनी महती भूमिका रही है—डॉ० चार्ल शार्पेण्टियर की इस उक्ति से इस बिन्दु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—"जैनधर्म निश्चित रूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं और परिणामस्वरूप मूल सिद्धांतों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्ररूप धारण कर चुकी होंगी।" स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक अस्तित्व तो असंदिग्ध है ही, साथ ही जैनधर्म के प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हें है, जो समय के साथ-साथ विकसित होना चला गया।

तत्कालीन परिस्थितियाँ

उस काल की धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन दो प्रमुख बिन्दुओं को उभारता है। एक तो यह कि उस युग में तात्त्विक चिन्तन विकसित होने लगा था। जीवन और जगत के मूलभूत तत्त्वों के विषय में विचार-विनिमय और चिन्तन-मनन द्वारा सिद्धांतों का निरूपण होने लगा था और इस प्रकार 'पराविद्या' आकार में आने लगी थी। यज्ञादि कर्मकाण्ड विषयक 'अपराविद्या' निस्तेज होने लगी थी, इसे मोक्ष-प्राप्ति का समर्थ साधन मानने में भी सन्देह किया जाने लगा था। ये चिन्तक और मनन-कर्त्ता ब्रह्म, जीवन, जगत, आत्मादि सूक्ष्म विषयों पर शांतैकान्त स्थलो में निवास और विचरण करते हुए मंथन किया करते तथा प्रायः मौन ही रहा करते थे। अपने वाह्य व्यवहार की इस विशिष्टता के कारण ये 'मुनि' कहलाते थे।

दूसरी ओर यज्ञादि कर्मों के बहाने व्यापक रूप से वलि के नाम पर जीवहिंसा की जाती थी। वलि का तथाकथित प्रयोजन होता था—देवो को तुष्ट और प्रसन्न करना। भगवान पार्श्वनाथ ने इसे मिथ्याचार बताते हुए इसका विरोध किया था। वलि की और यज्ञादि कर्मकाण्डों की निन्दा के कारण यज्ञादि मे विश्वास रखने वालों का विरोध भी भगवान को सहना पड़ा होगा, किन्तु इस कारण से ऐसी मान्यता की स्थापना में औचित्य प्रतीत नहीं होता कि विरोधियो के कारण भगवान ने अपना जन्म क्षेत्र त्याग कर धर्मोपदेश के लिए अनार्य प्रदेश को चुना। अनार्य प्रदेश में धर्म-प्रचार का अभियान तो उन्होंने चलाया, पर किसी आतंक के परिणामस्वरूप नही, अपितु व्यापक जन-कल्याण की भावना ने ही उन्हें इस दिशा में प्रेरित किया था।

निश्चित ही जन-मन के कल्याणार्थ अपार-अपार सामर्थ्य भगवान पार्श्वनाथ में था, जिसका उन्होंने सदुपयोग भी किया। आत्म-कल्याण में तो वे पीछे रहते भी कैसे ? तीर्थंकरत्व की उपलब्धि भगवान की समस्त गरिमा का एकबारगी ही प्रति-पादन कर देती है। यह सारी योग्यता, क्षमता और विशिष्ट उपलब्धियाँ उनके इसी एक जीवन की साधनाओं का फल नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य कर्मों और सुसंस्कारों का संगठित एवं व्यक्त रूप था।

पूर्वजन्म

भगवान के १० पूर्व भवों का विवरण मिलता है—

१. मरुभूति और कमठ का भव
२. हाथी का भव
३. सहस्रार देवलोक का भव
४. किरणदेव विद्याधर का भव
५. अच्युत देवलोक का भव
६. वज्रनाभ का भव
७. ग्रैवेयक देवलोक का भव

८. स्वर्णबाहु का भव
९. प्राणत देवलोक का भव
१० पार्श्वनाथ का भव

पोतनपुर नगर के नरेश महाराजा अरविन्द जैनधर्म परायण थे। उनके राजपुरोहित विश्वभूति के दो पुत्र थे—बड़ा कमठ और छोटा मरुभूति। पिता के स्वर्गवास के बाद कमठ ने पिता का कार्यभार संभाल लिया; किंतु मरुभूति की रुचि सांसारिक विषयों में नहीं थी। वह सर्व सावद्ययोगों को त्यागने के अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में रहा करता। दोनों भाइयों के मनोजगत में जमीन-आसमान का अन्तर था। कमठ कामुक और दंभी था। इन दुर्गुणों ने उसके चरित्र को पतित कर दिया था। यहाँ तक कि अपने अनुज की पत्नी से भी उसके अनुचित संबंध थे। कमठ की पत्नी इसे कैसे सहन करती? उसने देवर को इस बीभत्सकांड का समाचार दिया, किंतु मरुभूति सहज ही इसमे सत्यता का अनुभव न कर पाया। उसका सरल हृदय सर्वथा कपटहीन था और अपने अग्रज कमठ के प्रति वह ऐसे किसी भी संवाद को विश्वसनीय नहीं मान पाया। कानों पर विश्वास चाहे न हो, पर आँखें तो कभी छल नहीं कर पाती। उसने यह घोर अनाचार जब स्वयं देखा तो सन्न रह गया। उसने राजा की सेवा में प्रार्थना की और राजा, ब्राह्मण होने के नाते कमठ को मृत्यु दण्ड तो नहीं दे पाया, किंतु उसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया।

कमठ ने जंगल में कुछ दिनों पश्चात तपस्या प्रारम्भ कर दी। अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर, नेत्र निमीलित कर बैठ गया। समीप के क्षेत्र में कमठ के तप की प्रशंसा होने लगी और श्रद्धा-भाव के साथ जन-समुदाय वहाँ एकत्र रहने लगा। मरुभूति ने जब इस विषय में सुना तो उसका सरल मन पश्चात्ताप में डूब गया। वह सोचने लगा कि मैंने कमठ के लिए घोर यातनापूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न करदी हैं। उसके मन में उत्पन्न पश्चात्ताप का भाव तीव्र होकर उसे प्रेरित करने लगा कि वह कमठ से क्षमायाचना करे। वह कमठ के पास पहुँचा। उसे देखकर कमठ का वैमनस्य-भाव बीभत्स हो उठा। मरुभूति जब क्षमायाचनापूर्वक अपना मस्तक कमठ के चरणों में झुकाए हुए था, तभी कमठ ने एक भारी प्रस्तर उसके सर पर दे मारा। मरुभूति के प्राण-पखेरु उड़ गये। इसी भव में नहीं, आगामी अनेक जन्मों में कमठ अपनी शत्रुता के कारण मरुभूति के जीव को त्रस्त करता रहा।

यह कथा तो है, भगवान के १० पूर्व भवों में से पहले भव की। अपने आठवें भव में मरुभूति का जीव राजा स्वर्णबाहु के रूप में उत्पन्न हुआ था। पुराणपुर नगर में एक समय महाराजा कुलिशबाहु का शासन था। इनकी धर्मपत्नी महारानी सुदर्शना थी।

मध्य ग्रैवेयक का आयुष्य समाप्त कर जब वज्रनाभ के जीव का च्यवन हुआ तो उसने महारानी सुदर्शना के गर्भ में स्थिति पायी। इसी रात्रि को रानी ने १४ दिव्य

स्वप्न देखे और इनके शुभ फलों से अवगत होकर वह फूली न समायी कि वह चक्रवर्ती अथवा धर्मचक्री पुत्र की जननी बनेगी। गर्भावधि की समाप्ति पर रानी ने एक सुन्दर और तेजवान कुमार को जन्म दिया। पिता महाराजा कुलिशबाहु ने कुमार का नाम स्वर्णबाहु रखा।

स्वर्णबाहु जब युवक हुए तो वे धीर, वीर, साहसी और पराक्रमी थे। सब प्रकार से योग्य हो जाने पर महाराजा कुलिशबाहु ने कुमार का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं प्रव्रज्या ग्रहण करली। नृपति के रूप में स्वर्णबाहु ने प्रजावत्सलता और पराक्रम का अच्छा परिचय दिया। एक समय राज्य के आयुधागार मे चक्ररत्न उदित हुआ जिसके परिणामस्वरूप महाराजा स्वर्णबाहु छः खण्ड पृथ्वी की साधना कर चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से विभूषित हुए।

पुराणपुर में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवसरण था। महाराजा स्वर्णबाहु भी उपस्थित हुए। वहाँ वैराग्य की महिमा पर चिन्तन करते हुए उन्हें जाति-स्मरण हो गया। पुत्र को राज्यारूढ़ कर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास ही दीक्षा ले ली। मुनि स्वर्णबाहु ने अर्हद्‌भक्ति आदि बीस बोलो की आराधना और कठोरतप के परिणामस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। एक समय मुनि स्वर्णबाहु विहार करते करते क्षीरवर्णा वन मे पहुँचे। कमठ का जीव अनेक भवों की यात्रा करते हुए इस समय इसी वन मे सिंह के भव में था। वन मे मुनि को देखकर सिंह को पूर्व भवो का वैर स्मरण हो आया और कुपित होकर उसने मुनि स्वर्णबाहु पर आक्रमण कर दिया। मुनि अपना अन्तिम समय समझकर सचेत हो गये थे उन्होंने अनशन ग्रहण कर लिया। हिंस्र सिंह ने मुनि का काम तमाम कर दिया। इस प्रकार मुनि स्वर्णबाहु ने समाधिपूर्वक देह को त्यागा और महाप्रभ विमान में महर्द्धिक देव बने। सिंह भी मरण प्राप्त कर चौथे नरक में नैरयिक हुआ।

जन्म-वंश

पवित्र गंगा नदी के तट पर काशी देश—इस देश की एक रमणीक और विख्यात नगरी थी वाराणसी। किसी समय इस नगर में महाराजा अश्वसेन का राज्य था। इक्ष्वाकुवंश के शिरोमणि महाराजा अश्वसेन की महारानी थीं—वामादेवी। चैत्र कृष्णा चतुर्थी का दिवस और विशाखा नक्षत्र का शुभयोग था—तब स्वर्णबाहु का जीव महाप्रभ विमान से अपना २० सागर का आयुष्य भोगकर च्युत हुआ और रानी वामादेवी के गर्भ मे स्थित हुआ। गर्भ धारण की रात्रि में ही रानी ने १४ महान् और शुभ स्वप्नों का दर्शन किया। स्वप्नफल-द्रष्टाओ की भविष्य-उक्ति सुनकर कि रानी की कोख से तेजस्वी चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर होने वाला पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा—राज-परिवार में प्रसन्नता व्याप्त हो गयी। माता मुदित और आनन्दित मन के साथ गर्भ-पोषण करने लगी। यथासमय माता ने पौष कृष्णा दशमी को अनुराधा नक्षत्र के शुभयोग में एक तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया। नीलमणि की-सी कांति और अहि-

मुख चिन्ह से युक्त कुमार के जन्म लेते ही सभी लोकों में एक आलोक व्याप्त हो गया, जो तीर्थंकर के अवतरण का संकेत था। दिक्कुमारियों, देवेन्द्र और देवों ने मिलकर भगवान के जन्म-कल्याण महोत्सव का आयोजन किया।

कुमार-जन्म से सारे राज्य में हर्ष का ज्वार सा आ गया था। १० दिन तक भाँति-भाँति के उत्सव मनते रहे। जब कुमार गर्भ में थे तो रानी ने अंधेरी रात में भी राजा के पास (पार्श्व) चलते साँप को देख लिया था और राजा को सचेत कर उनकी प्राण-रक्षा की थी। इस आधार पर महाराज अश्वसेन ने कुमार का नाम रखा पार्श्व कुमार। उत्तर पुराण के एक उल्लेख के अनुसार कुमार का यह नामकरण इन्द्र द्वारा हुआ था।

गृहस्थ जीवन

युवराज पार्श्वकुमार अत्यन्त वात्सल्य एवं स्नेह से सिक्त वातावरण में विकसित होते रहे। भाँति-भाँति की बाल-सहज क्रीड़ा-कौतुक करते, स्वजन-परिजनों को रिझाते हुए क्रम-क्रम से अपनी आयु की सीढ़ियाँ लाँघते रहे। वे जन्मजात प्रबुद्धचेता और चिन्तनशील थे। विषय और समस्या पर मनन कर उसकी तह तक पहुँचने की अद्भुत क्षमता थी उनमें। मौलिक बुद्धि से वे प्रचलित मान्यताओं का विश्लेषण करते और तर्क की कसौटी पर जो खरी उतरतीं, केवल उन्हीं को वे सत्य-स्वरूप स्वीकार करते थे। शेष का वे विरोध करते थे तथा और निर्भीकता के साथ उनका खण्डन भी किया करते थे। वे सहज विश्वासी न थे और यही कारण है कि अंध-विश्वास तो उनको स्पर्श भी न कर पाया था।

जैसा कि वर्णित किया जा चुका है भगवान का वह युग पाखण्ड और अंध-विश्वासों का युग था। तप-यज्ञादि के नाम पर भाँति-भाँति के पाखण्डों का खुला व्यवहार था। वह मिथ्या मायाचार के अतिरिक्त कुछ भी न था। वाराणसी तो विशेषतः तापस-केन्द्र ही बनी हुई थी। एक दिन युवराज पार्श्वकुमार ने सुना कि नगर में एक तापस आया है, जो पंचधूनी तप कर रहा है। असंख्य श्रद्धालु नर-नारी दर्शनार्थ पहुँच रहे थे। राजमाता और अन्य स्वजनों को भी जब उन्होंने उस तापस की वन्दना करने हेतु जाते देखा, तो उत्सुकतावश वे भी साथ हो लिये। उन्होंने देखा अपार जन-समुदाय एकत्रित है और मध्य में तापस तप ताप रहा है। अग्नि जब मन्द होने लगती तो बड़े-बड़े लक्कड़ तापस अग्नि में खिसकाता जा रहा था। जब इसी प्रकार एक लक्कड़ उसने खिसकाया, तो उसमें युवराज ने एक नाग जीवित अवस्था में देखा। उनके मन में जीवित नाग के दाह की संभावना से अतिशय करुणा का उद्रेक हुआ। साथ ही ऐसी साधना के प्रति घृणा का भाव भी उदित हुआ जिसमें निरीह प्राणियों की प्राणहानि को भी निषिद्ध नहीं समझा जाता। जहाँ एकत्रित समुदाय तापस की स्तुतियाँ कर रहा था, वहाँ राजकुमार पार्श्व के मन में इस तापस के प्रति, उसके अज्ञान के कारण भर्त्सना का भाव प्रबल होता जा रहा था। युवराज ने तापस कमठ को सावधान करते हुए

कहा कि यह तप किसी शुभ फल को देने वाला नहीं होगा। करुणा से रहित कोई धर्म नहीं हो सकता और यदि ऐसा कोई धर्म माना जाता है, तो वह अज्ञानता के कारण ही धर्म माना जा सकता है—वास्तव में वह आडम्बर और पाखण्ड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाकर, उनका प्राणान्त कर आगे बढ़ने वाली साधना, साधक का कल्याण नहीं कर सकती।

अपनी साधना के प्रति की गयी ललकार को कमठ सहन नहीं कर पाया। उसने राजकुमार के विचारों का प्रत्याख्यान करते हुए रोषयुक्त वाणी में कहा कि तप की महिमा को हम भली-भांति समझते हैं। तुम जैसे राजदण्ड धारण करने वालों को इसका मिथ्या दम्भ नहीं रखना चाहिये। कुमार शान्त थे। गम्भीर वाणी में उन्होंने कहा कि धर्म पर किसी व्यक्ति, वंश या वर्ण का एकाधिपत्य नहीं हो सकता। क्षत्रिय होकर भी कोई धर्म के मर्म को समझ ही नहीं सकता अपितु समझा भी सकता है और ब्राह्मण होकर भी धर्म के नाम पर अकरुण बन सकता है, जीव हिंसा कर सकता है। ऐसा न होता तो आज तुम जीवित प्राणी को यों अग्नि में नहीं होमते।

एकत्रित जनसमुदाय में अपने प्रति धारणा की अवनति देखकर कमठ तो क्रोधाभिभूत हो गया। उसके रक्तिमवर्णी नेत्रों का आकार अभिवर्धित होने लगा। क्रोध में आकर उसने राजकुमार पार्श्व को बुरा-भला कहा। वह कर्कशवाणी में कहने लगा कि कुमार मुझ पर जीव-हत्या का दोष लगाकर व्यर्थ ही भक्तों की दृष्टि में मुझे अवनत करने का साहस सोच-समझ कर करो। मैं किसी भी प्राणी की हत्या नहीं कर रहा हूँ।

इस वाक्-संघर्ष को व्यर्थ समझकर युवराज पार्श्वकुमार ने नाग की प्राण-रक्षा द्वारा अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने की ठान ली। उन्होंने आज्ञा दी कि लक्कड़ को अग्नि से बाहर निकाल लिया जाय। सेवकों ने तुरन्त आदेश-पालन किया। उसने लक्कड़ को आग से बाहर निकलवाकर नाग को इस दारुण यातना से मुक्त किया। अब तक नाग भीषण अग्नि से झुलस गया था और मरणासन्न था। उन्होंने उसे नवकार महामंत्र श्रवण करवाया—इस प्रयोजन से कि उसे सद्गति प्राप्त हो सके।

लक्कड़ में से नाग को इस दुरवस्था में निकलते देखकर कमठ को तो जैसे काठ ही मार गया। जनता उसकी करुणाहीनता के लिए निन्दा करने लगी। वह हतप्रभ सा हो गया। इस पर कुमार का यह उपदेश कि अज्ञान तप को त्यागो और दया-धर्म का पालन करो—उसको असंतुलित कर देने को पर्याप्त था ही। घोर लज्जा ने उसे नगर त्यागकर अन्यत्र वनों में जाने को विवश कर दिया। वहाँ भी यह कठोर अज्ञान तप में ही व्यस्त रहा और मरणोपरान्त मेघमाली नामक असुरकुमार देव बना।

पार्श्वकुमार की चिन्तनशीलता ने उन्हें संसार की असारता से भली-भांति अवगत कर दिया था। वे मानसिक रूप से तो विरक्त जीवन ही जी रहे थे। वैभव में निमग्न रहकर भी जल में कमलवत् वे सर्वथा निलिप्त रहा करते थे। विषयों

के प्रति रंचमात्र भी आकर्षण उसके मन में न था। उनके ज्ञान और शक्ति की गाथाएँ दूर-दूर तक कही-सुनी जाती थीं। भव्य और अति सुन्दर व्यक्तित्व कुमार की विशेषता थी। अनेक राजघरानों से कुमार के लिए विवाह-प्रस्ताव आने लगे, किन्तु वे तो साधना-पथ को अपनाना चाहते थे। अतः वे भला इनमें से किसी को कैसे स्वीकार करते।

उस समय कुशस्थल में महाराजा प्रसेनजित का शासन था। उनकी राजकुमारी प्रभावती अनिंद्य रूपवती और सर्वगुणसम्पन्ना थी। अब वह भी विवाहोपयुक्त वय को प्राप्त कर चुकी थी और महाराज प्रसेनजित उसके अनुकूल वर की खोज में थे। कुमारी प्रभावती ने एक दिन किन्नरियों का एक गीत सुन लिया, जिसमें पार्श्वकुमार के अनुपम रूप की प्रशंसा के साथ-साथ उस कन्या के महाभाग्य का बखान था, जो उसकी पत्नी बनेगी। राजकुमारी पार्श्वकुमार के प्रति पूर्वराग से ग्रस्त हो गयी। उसने मन में संकल्प धारण कर लिया कि वह विवाह करेगी तो उसी राजकुमार से अन्यथा आजन्म अविवाहिता ही रहेगी। कोमल मन ने इसकी अभिव्यक्ति सखियों के सम्मुख की और राजकुमारी की हितैषिणी उन सखियों ने यह संवाद राजा प्रसेनजित तक पहुँचा दिया। अब प्रयत्न प्रारम्भ हुए। महाराजा स्वयं वाराणसी नरेश महाराज अश्वसेन के समक्ष इस प्रार्थना के साथ पहुँचाना ही चाहते थे कि एक संकट आ उपस्थित हुआ।

कलिंग में उन दिनों यवनराज का शासन था। वह अपने युग का एक शक्तिशाली शासक था। यवनराज ने जब राजकुमारी के रूपगुण की ख्याति सुनी, तो उसे प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठा। उसने महाराजा प्रसेनजित को सन्देश भिजवाया कि प्रभावती का हाथ मेरे हाथ में दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। इस धमकी से राजा प्रसेनजित विचलित हो गये थे। यवनराज की शक्ति के दबाव में भी भला राजा अपनी कन्या उसे कैसे दे देते? अब उनके पास अन्य शासकों से सहायता की याचना करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था। निदान, उन्होंने अपना दूत महाराजा अश्वसेन के दरबार में भेजा। दूत ने सारी कथा प्रस्तुत कर दी। *राजकुमारी के मन में पार्श्वकुमार के प्रति प्रेम का जो प्रबल भाव था,* दूत ने महाराजा अश्वसेन को उससे भी अवगत किया और प्रार्थना की कि संकट की इस घड़ी में कुशस्थल की स्वाधीनता और राजकुमारी प्रभावती के धर्म की रक्षा कीजिये।

महाराजा अश्वसेन को यवनराज का यह अनीतिपूर्ण दुराग्रह उत्तेजित कर गया। उन्होंने दूत को महाराजा प्रसेनजित की सहायता करने का आश्वासन देकर विदा किया और युद्ध की तैयारी का आदेश दिया। तुरन्त ही सैन्यदल शस्त्र से सुसज्जित होकर प्रयाण हेतु तत्पर हो गया। महाराजा स्वयं इस विशालवाहिनी का नेतृत्व करने के लिए प्रस्थान कर ही रहे थे कि युवराज पार्श्वकुमार उपस्थित हुए और उन्होंने विनयपूर्वक निवेदन किया कि युवा पुत्र के होते हुए महाराजा को यह कष्ट न करना होगा। मुझे आदेश दीजिये—मैं यवन सेना का दलन करने की पूर्ण

क्षमता रखता हूँ। मेरे भुजबल के परीक्षण का उचित अवसर आया है। कृपया यह दायित्व मुझे सौंपिये।

पिता अपने पुत्र की शक्ति से परिचित थे। उन्होंने सहर्ष अपनी सहमति व्यक्त कर दी। वाराणसी की सेना ने राजकुमार पार्श्वकुमार के उत्साहवर्द्धक नेतृत्व में प्रयाण किया। इसका समाचार पाकर ही यवनराज सन्न रह गया। पार्श्वकुमार के पराक्रम और शौर्य से वह भला कैसे अपरिचित रह सकता था? उसका शक्ति का दम्भ फीका पड़ने लगा। उसका आमना-सामना जब पार्श्वकुमार से हुआ तो उनके प्रतापी व्यक्तित्व को देख कर उसकी विजय की रही-सही आशा भी ध्वस्त हो गयी। पार्श्वकुमार ने यवनराज से कहा कि तुम आतंकित प्रतीत होते हो। मैं शक्तिशाली हूँ, किन्तु तुम्हारी तरह निरीह प्रजा और शान्ति का विनाश मैं उपयुक्त नहीं मानता हूँ। राजकुमारी की माँग कर तुमने घोर अनुचित कार्य किया है। यदि अब भी तुम अपने इस अपराध के लिए क्षमायाचना करने को तत्पर हो, तो युद्ध टल सकता है। युद्ध होने पर तुम्हारा और तुम्हारी शक्ति का चिन्ह भी शेष नहीं रहेगा। उन्होंने यवन राज को ललकारा कि अब भी अगर तुम युद्ध चाहते हो तो उठाओ शस्त्र।

यवनराज के तो छक्के ही छूट गये। उसने शस्त्र डाल दिये और पीपल के पत्ते की तरह काँपते हुए वह क्षमायाचना करने लगा। उसका सारा गर्व तहस-नहस हो गया। कुमार ने यवनराज और कुशस्थल-नरेश महाराज प्रसेनजित के मध्य मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करा दिया और संकट के मेघ छितर कर अदृश्य हो गये। राजकुमारी का भाग्याकाश भी स्वच्छ और निरभ्र हो गया।

महाराजा प्रसेनजित तो अतिशय आभारी थे ही। उन्होंने समस्त राज्य की ओर से कुमार के प्रति धन्यवाद करते हुए उनका अभिनंदन किया। उन्होंने राजकुमार से अपनी कन्या प्रभावती के साथ पाणिग्रहण का भी प्रबल आग्रह किया। राजकुमारी के दृढ़ प्रेम से अवगत होकर पार्श्वकुमार विचित्र समस्या में ग्रस्त हो गये। वे कुशस्थल की सुरक्षा हेतु आये थे; विवाह के लिए नहीं। इस नये कार्य के लिए पिता की अनुमति अपेक्षित थी और कुमार ने इसी आशय का उत्तर दिया।

महाराजा प्रसेनजित अपनी पुत्री के साथ वाराणसी पहुँचे और उन्होंने महाराजा अश्वसेन से आग्रहपूर्वक निवेदन किया। उस समय कुमार की भव्य सफलता के उपलक्ष में राजधानी में उल्लास के साथ समारोह मनाये जा रहे थे। यद्यपि कुमार, जो मन से विरक्त थे, विवाह के चक्र में पड़ना नहीं चाहते थे, किन्तु अपने पिता के आदेश का पालन करते हुए उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी और समारोहों में एक नवीन आकर्षण आ गया। अनुपम उत्साह के साथ राजकुमार पार्श्वकुमार और राजकुमारी प्रभावती का परिणयोत्सव सम्पन्न हुआ।

अब पार्श्वकुमार के जीवन में सर्वत्र सरसता और आनंद बिखरा पड़ा था। यौवन और रूप, शृंगार और प्रेम सुख-सरिताएँ प्रवाहित करने लगे। प्रभावती का

निर्मल अनुराग उन्हें प्राप्त था, किंतु उनका मन इन सांसारिक विषयों में नहीं रम पाया। भौतिक सुखों की कामना तो उन्हें कभी रही ही नहीं। ज्यों-ज्यों विषयों का विस्तार होता गया उनका मन त्यों ही त्यों विराग की ओर बढ़ता गया और अंततः मात्र ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने संसार को त्याग देने का अपना संकल्प व्यक्त भी कर दिया। तब तक उन्हें यह अनुभव भी होने लग गया था कि उनके भोग फलदायी कर्मों की समाप्ति अब समीप ही है और अब उन्हें आत्म-कल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए। तभी लोकांतिक देवों ने धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की। कुमार पार्श्व वर्षीदान में लग गये। वे एक वर्ष तक अमित दान देते रहे और तब उनका दीक्षाभिषेक हुआ।

दीक्षाग्रहण : केवलज्ञान

दीक्षाभिषेक सम्पन्न हो जाने पर पार्श्वकुमार ने निष्क्रमण किया। समस्त वैभव और स्वजन-परिजनों को त्यागकर वे विशाला नाम की शिविका में आरूढ़ हो आश्रम पद उद्यान में पधारे। वहाँ स्वतः ही उन्होंने समस्त वस्त्राभूषणों को अपने तन से पृथक् कर दिया और ३०० अन्य राजाओं के साथ अष्टम तप में भगवान ने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के तुरन्त पश्चात ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हो गयी। यह पौष कृष्णा एकादशी के अनुराधा नक्षत्र का शुभ योग था। आगामी दिवस को कोप्कट ग्राम में धन्य नाम के एक गृहस्थ के यहाँ भगवान का प्रथम पारणा हुआ। इसके पश्चात् भगवान ने अपने अजस्र विहार पर कोप्कट ग्राम से प्रस्थान किया।

अभिग्रह

दीक्षोपरांत भगवान ने यह अभिग्रह किया कि अपने साधना समय अर्थात् ८३ दिन की छद्मस्थचर्या की अवधि में मैं शरीर से ममता हटाकर सर्वथा समाधि अवस्था में रहूँगा। इस साधना-काल में देव-मनुज, पशु-पक्षियों की ओर से जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे उनको अचंचल भाव से सहन करूँगा।

भगवान अपने अभिग्रह के अनुरूप शिवपुरी नगर में पधारे और कौशाम्ब वन में ध्यानलीन होकर खड़े हो गये।

उपसर्ग

अपने सतत और मुक्त विहार के दौरान भगवान एक बार एक तापस-आश्रम के समीप पहुँचे ही थे कि संध्या हो गयी। अतः भगवान ने अग्रसर होने का विचार स्थगित कर दिया। वे एक वट-वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये—ध्यानस्थ हो गये। इस समय कमठ का जीव मेघमाली असुर के रूप में था। उसने अपने ज्ञान से ज्ञात कर लिया कि भगवान के साथ उसका पूर्वभव का वैमनस्य है। भगवान ध्यानस्थ हैं। वह इस कोमल परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए प्रेरित हो उठा। प्रतिशोध का भाव उसके मन में कसमसाने लगा।

कमठ ने मायाचार का आश्रय लिया। उसने सिंह, भालू, हाथी आदि विभिन्न रूप धारण कर भगवान को भयभीत करने का और उनके ध्यान को भंग करने का भरसक प्रयत्न किया। भगवान पर इनका तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ, वे यथावत ध्यानलीन, शांत और अविचलित ही बने रहे। अपनी इस असफलता पर मेघमाली बड़ा कुण्ठित हो गया। प्रतिक्रियास्वरूप वह और अधिक भयंकर बाधा उपस्थित करने की योजना सोचने लगा। उसने तुरंत एक निर्णय कर लिया और सारा गगनमण्डल घनघोर मेघों से आच्छादित हो गया। कम्पित कर देने वाली मेघ-गर्जनाओं से दिशाएँ काँपने लगीं, चपला की चमक-दमक जैसे प्रलय के आगमन का संकेत करने लगी। तीव्र झंझावात भी सक्रिय हो गया, जिसकी चपेट में आकर विशालकाय वृक्ष भी ध्वस्त होने लगे। इन विपरीत और भयंकर परिस्थितियों में भी भगवान अचल बने रहे। तब मूसलाधार वर्षा होने लगी। जलधाराएँ मेघ रूपी धनुष से निकले बाणों की भाँति प्रहार करने लगी। सारा क्षेत्र थल से समुद्र में परिणत हो गया। सर्वत्र जल ही जल दृष्टिगत होने लगा। देखते ही देखते सृष्टि संहारक जल-प्लावन-सा दृश्य उपस्थित हो गया। सारा आश्रम जलमग्न हो गया। धरती पर पानी की गहराई उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। भगवान घुटनों तक जल-मग्न हुए और मेघमाली की आँखें ऊपर ही गड़ गयीं। ज्यों-ज्यों जल-स्तर बढ़ता जाता, वह अधिक से अधिक प्रसन्न होता जा रहा था। जब भगवान की नासिका को जल स्पर्श करने लगा तो अपनी योजना की सफलता की सन्निकटता अनुभव कर वह दर्पपूर्ण अट्टहास कर उठा। प्रभु थे कि अब भी अपने अटल ध्यान में मग्न अविचलित खड़े थे।

नागकुमारों के इन्द्र धरणेन्द्र ने भगवान के इस रौद्र उपसर्ग को देखा और उसके मन में मेघमाली के प्रति तीव्र भर्त्सना का भाव घर कर गया। वह तुरन्त भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने प्रभु के चरणों के नीचे स्वर्ण कमल का आसन रच दिया और अपने सप्त फनों का छत्र धारण कराकर भगवान की इस भीषण वर्षा से रक्षा की। जल स्तर ज्यों-ज्यों ऊपर उठता जाता था, भगवान का आसन भी ऊपर उठता जाता अतः यह जल उनको कोई हानि नहीं कर सका। वे इस उपसर्ग की घोर यातना में भी अपनी साधना में दृढ़ बने रहे। मेघमाली का यह दाँव भी चूक गया। क्रोध तथा प्रतिशोध-पूर्ति में असफलता की लज्जा के कारण वह क्षुब्ध भी था और किंकर्तव्य-विमूढ़ भी। उसकी समस्त माया विफल हो रही थी।

धरणेन्द्र ने प्रताड़ना देते हुए मेघमाली से कहा कि जगत के कल्याण का मार्ग खोजने वाले भगवान के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करके तू कितना भयंकर दुष्कर्म कर रहा है—तुझे यह कदाचित् पूर्णतः मालूम नहीं है। अब भी तुझे चाहिए कि तू भगवान की शरण में आजा और अपने पापों की क्षमा करवाले। यदि तूने अब भी अपनी माया को नहीं संभाला तो तू सर्वथा अक्षम्य हो जायगा। भगवान के अपराधी का भला कभी कल्याण हुआ है?

धरणेन्द्र का उक्त प्रयत्न प्रभावी हुआ और असुर मेघमाली के मन में अपनी

करमी के प्रति पश्चात्ताप अंकुरित हुआ। उसे बोध उत्पन्न हुआ और अपने दुष्कर्म के कारण उसे आत्म-ग्लानि होने लगी। वह सोचने लगा कि अपनी समग्र शक्ति को प्रयुक्त करके भी मैं अपनी योजना में सफल न हो सका, व्यर्थ ही गयी मेरी सारी माया। इन भयंकर उपद्रवों का कुछ भी प्रभाव भगवान पर नहीं हुआ। वे ध्यानलीन भी रहे और शांत भी। अपार शक्ति के स्वामी होते हुए भी मेरे प्रति उनकी मुखमुद्रा में क्रोध या रुष्टता का रंग भी नहीं आ पाया। भगवान की इस क्षमाशीलता और धैर्य एवं धरणेन्द्र की प्रेरणा से मेघमाली का हृदय-परिवर्तन हुआ। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भगवान के चरणों में आश्रय लेने में ही अब मेरा कल्याण निहित है। वह दम्भी अब सर्वथा सरल हो गया था। पछतावे के भाव ने उसे बड़ा दयनीय बना दिया था। वह भगवान के चरण-कमलों से लिपट गया और दीन वाणी में बार-बार क्षमा-प्रार्थना करने लगा।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी तो परम वीतरागी थे। उनके लिए न कोई मित्र का विशिष्ट स्थान रखता था और न ही किसी को वे शत्रु मानते थे। उनके लिए धरणेन्द्र और मेघमाली मे कोई अन्तर नहीं था। वे न अपने हितैषी धरणेन्द्र पर प्रसन्न थे और न घोर उपद्रवों द्वारा कष्ट व बाधा पहुँचाने वाले मेघमाली (कमठ) के प्रति उनके मन में रोष का ही भाव था। भगवान ने कमठ को आश्वस्त किया और वह धन्य हो गया। धरणेन्द्र भी भगवान की वन्दना कर विदा हो गया और कमठ भी एक नवीन मार्ग अपनाने की प्रेरणा के साथ चला गया। भगवान ने भी उस स्थल से विहार किया।

दीक्षोपरांत ८३ दिन तक भगवान इस प्रकार अनेक परीषहों और उपसर्गों को क्षमा व समता की प्रबल भावना के साथ झेलते रहे एवं छद्मस्थावस्था में विचरणशील बने रहे। इस अवधि मे भगवान ने अनेक कठोर तप एवं उच्च साधनाएँ कीं। अन्ततः ८४वें दिन वे वाराणसी के उसी आश्रमपद उद्यान में लौट आये जहाँ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। वहाँ पहुँचकर धातकी वृक्ष तले प्रभु ध्यान मग्न खड़े हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में प्रवेश कर भगवान ने घातिककर्मों का क्षय कर दिया। भगवान को केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी। वह चैत्र कृष्णा चतुर्थी के विशाखा नक्षत्र का शुभ योग था। भगवान के केवली हो जाने की इस तिथि को तो सभी स्वीकार करते हैं, किंतु कतिपय आचार्यों का मत यह है कि यही वह तिथि थी जब कमठ द्वारा भयंकर उपसर्ग प्रस्तुत किये गये थे, जबकि शेष इस तिथि को उस प्रसंग के अनन्तर की मानते हैं।

देव-देवेन्द्र को भगवान की केवल ज्ञानोपलब्धि की तुरंत सूचना हो गई। वे भगवान की सेवा में वन्दनार्थ उपस्थित हुए उन्होंने केवलज्ञान की महिमा का पुनः प्रतिपादन किया। सभी लोकों में एक प्रखर प्रकाश भी व्याप्त हो गया था।

प्रथम धर्मदेशना

भगवान का प्रथम समवसरण आयोजित हुआ। उनकी अमोल वाणी से लाभान्वित होने को देव-मनुजों का अपार समूह एकत्रित हुआ। माता-पिता (महाराजा अश्वसेन और रानी वामादेवी) और प्रभावती को भगवान के केवली हो जाने की सूचना से अपार-अपार हर्ष अनुभव हुआ। समस्त राज-परिवार भगवान की चरण-वन्दना हेतु उपस्थित हुआ। नवीन गरिमा-मण्डित भव्य व्यक्तित्व के स्वामी भगवान को शांत मुद्रा मे विराजित देखकर प्रभावती के नयन चू पड़े। भगवान तो ऐसे विरक्त थे, जिनके लिए समस्त प्राणी ही मित्र थे और उनमें से कोई भी विशिष्ट स्थान नही रखता था।

प्रभु ने अपनी प्रथम देशना में इन्द्रियों के दमन और सर्व कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया। कषायों से उत्पन्न होने वाले कुपरिणामो की व्याख्या करते हुए भगवान ने धर्म-साधना की महत्ता का प्रतिपादन किया। अपनी देशना में भगवान ने स्पष्ट किया कि आत्मा ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण चन्द्रमा के समान है किंतु उसकी रश्मियाँ कर्मों के आवरण मे छिपी रह जाती हैं। ज्ञान-वैराग्य की साधना इस आच्छादन को इस आवरण को दूर कर सकती है। ऐसा करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का व्यवहार ही मनुष्य को आवरणों से मुक्ति पाने की समर्थता दे सकता है। धर्म-साधना ही कर्म-बंधनों को काट सकती है। सभी के लिए धर्म की आराधना अपेक्षित है और धर्महीनता से जीवन मे एक महाशून्य निर्मित हो जाता है।

भगवान की अनुपम प्रभावपूर्ण और प्रेरक वाणी से हजारों नर-नारी सजग हुए। अनेक ने ममता, क्षमा और शांति की साधना का व्रत लिया। महाराजा अश्व-सेन इस वाणी से प्रेरणा पाकर विरक्त हो गये। अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर उन्होंने भगवान के पास मुनिव्रत धारण कर लिया। माता वामादेवी और प्रभावती (पत्नी) ने आर्हती-दीक्षा ग्रहण की। भगवान की इस प्रथम देशना मे ही हजारों लोगों को आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा मिली थी। भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर की गरिमा से सम्पन्न हुए।

परिनिर्वाण

केवली भगवान पार्श्वनाथ स्वामी ने जन-जन के कल्याण हेतु लगभग ७० वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उपदेश दिये और असंख्य जनों को सन्मार्ग पर लगाया। आपके धर्म-शासन में १००० साधुओं एवं २००० साध्वियों ने सिद्धि का लाभ प्राप्त किया था।

जब भगवान को अपना निर्वाण-काल समीप ही लगने लगा, तो वे सम्मेद शिखर पधार गये। वहाँ उन्होंने ३३ अन्य साधुओं के साथ अनशन व्रत लिया और

ध्यानलीन हो गये। शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में पहुँचकर भगवान ने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर दिया। श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में भगवान पार्श्वनाथ स्वामी को निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म-परिवार

गणधर	१०
केवली	१,०००
मन:पर्यवज्ञानी	७५०
अवधिज्ञानी	१,४००
चौदह पूर्वधारी	३५०
वैक्रियलब्धिधारी	१,१००
वादी	६००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	१,२००
साधु	१६,०००
साध्वी	३८,०००
श्रावक	१,६४,०००
श्राविका	३,२७,०००

□□

भगवान महावीर स्वामी

(चिन्ह—सिंह)

जिनकी आत्मा राग-द्वेष और मोहादि दोषों से सर्वथा रहित है, जो मेरु पर्वत की भांति धीर हैं, देववृन्द जिनकी स्तुति करते हैं—ऐसे सिद्धार्थ वंश के पताका तुल्य और अरिवृन्द को नष्ट करने वाले हे महावीर ! मैं विनयपूर्वक आपकी प्रार्थना करता हूं, क्योंकि आप अज्ञान को दूर हटाने वाले हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकरों की जो परम्परा भगवान आदिनाथ ऋषभदेव जी से प्रारम्भ हुई थी, उसके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हुए हैं। २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् और ईसा पूर्व छठी शताब्दी अर्थात् आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान ने दिग्भ्रान्त जनमानस को कल्याण का मार्ग बताया था।

धर्मसंघ की स्थापना द्वारा भगवान ने तीर्थंकरत्व तो स्थापित किया ही था, साथ ही सच्चे अर्थों में वे सफल और समर्थ लोकनायक भी थे। अंधपरम्पराओं, पाखण्ड, वर्णादि भेद-भाव को दूर कर वे जहां सामाजिक सुधार के सबल सूत्रधार बने, वहां उन्होंने मानवीय उच्चादर्शों से च्युत मानव-जाति को करुणा, अहिंसा, प्रेम और बन्धुत्व का पाठ भी पढ़ाया। इस प्रकार भगवान विश्वबन्धुत्व की उज्ज्वल उदारता के धारक एवं संस्थापक भी थे। अखिल विश्व को भगवान ने साम्य, क्षमा, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि के पावन सिद्धान्तों का क्रीड़ास्थल बना दिया और जगत को मानवीय रूप प्रदान किया। इस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने मानव संस्कृति को एक व्यवस्थित रूप देकर उसका शुभारम्भ किया था, उसको मंगलपूर्ण और भव्य आदर्शों से समन्वित करने का महान् कार्य अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने ही सम्पन्न किया। वे भटकी हुई विश्व-मानवता के उद्धारक और पथ-प्रदर्शक थे। भगवान यथार्थ में ही 'विश्व-ज्योति' थे।

पूर्वजन्म-कथा

प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की सम्भावना से युक्त होता है। विशेष कोटि की उपलब्धियों के आधार पर ही उसे यह गरिमा प्राप्त होती है और ये उपलब्धियां किसी एक ही जन्म की अर्जनाएं न होकर जन्म-जन्मान्तरों के सुकर्मों और सुसंस्कारों के समुच्चय का रूप होती हैं। भगवान महावीर भी इस सिद्धान्त के अपवाद नहीं हैं। जब

उनका जीव अनेक पूर्वजन्मों के पूर्व नयसार के भव में था, तभी श्रेष्ठ संस्कारों का अंकुरण उनमे हो गया था।

अत्यन्त प्राचीनकाल में महाविदेह में जयन्ती नाम की एक नगरी थी, जहाँ शत्रुमर्दन नाम का राजा शासन करता था। नयसार इसी नरेश का सेवक था और प्रतिष्ठानपुर का निवासी था। नयसार स्वभाव से ही गुणग्राहक, दयालु और स्वामिभक्त था। अपने स्वामी के आदेश पर एक बार नयसार वन में लकड़ी काटने को गया हुआ था। दोपहर को जब वह भोजन की तैयारी करने लगा, तभी उसने एक मुनि का दर्शन किया, जो परम प्रभावान् थे, किन्तु श्रान्त-क्लान्त, तृषित और क्षुधित लग रहे थे। मुनि इस गहन वन में भटक गये थे, उन्हें मार्ग नहीं मिल रहा था। नयसार ने प्रथमत: तो मुनि का सेवा-सत्कार किया, आहार आदि का प्रतिलाभ लिया; तत्पश्चात् मुनि को वह उनके गन्तव्यस्थल तक पहुँचा आया। मुनि नयसार की सेवा पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे धर्मोपदेश दिया। नयसार को मुनि के सम्पर्क से सम्यक्त्व की उपलब्ध हुई और वह आजीवन सम्यक्धर्म का निर्वाह करते हुए मुनिजनों की सेवा में ही व्यस्त रहा।

नयसार का जीव अपने दूसरे भव मे सौधर्म कल्प में देव हुआ। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का पुत्र था—चक्रवर्ती भरत और भरत का पुत्र था मरीचि। भगवान ने भरत के एक प्रश्न के उत्तर में मरीचि के विषय में कहा था कि वह इसी अवसर्पिणी काल मे तीर्थंकर बनेगा। इस भावी गरिमा से उसे गर्व की उन्मत्तता हो गयी थी और उसने इसकी आलोचना भी नही की। इसी मरीचि के रूप में (सौधर्म कल्प से च्यवन कर) नयसार ने अपना तीसरा भव धारण किया था। मरीचि भगवान का सहगामी रहा और वही प्रथम परिव्राजक कहलाने का गौरव भी रखता है। यही नयसार का जीव अपने चौथे भव में ब्रह्मलोक का देव, पांचवें भव में कौशिक ब्राह्मण, छठे भव मे पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवें भव में सौधर्म देव, आठवें भव में अग्निद्योत, नौवें भव में द्वितीय कल्प का देव, दसवें भव में अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवें भव में सनत्कुमार देव, बारहवें भव में भारद्वाज, तेरहवें भव में माहेन्द्र कल्प का देव, चौदहवें भव में स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवें भव में ब्रह्मकल्प का देव और सोलहवें भव में विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति बना। विश्वभूति सासारिक कपटाचार को देखकर विरक्त हो गया था और अपने मुनि-जीवन मे उसने घोर तपस्याएँ की। अपने १७वें भव में नयसार का जीव महाशुक्रदेव हुआ और तदनन्तर वासुदेव त्रिपृष्ठ के रूप में उसने १८वाँ भव धारण किया।

पीठ पर ३ पसलियों के उभरे होने के कारण उसका नाम त्रिपृष्ठ हुआ था। वह अत्यन्त बलशाली और पराक्रमी राजकुमार था। इस युग का प्रतिवासुदेव था—राजा अश्वग्रीव। अश्वग्रीव के राज्य में एक स्थान पर शालिखेत में एक वन्यसिंह का बड़ा आतंक था। उसके हनन के लिए अश्वग्रीव ने वासुदेव त्रिपृष्ठ के पिता महाराजा

प्रजापति की सहायता की याचना की थी। त्रिपृष्ठ शस्त्रों से लेस होकर, रथारूढ़ होकर सिंह को समाप्त करने चला और उसकी कन्दरा में पहुँच कर उसे ललकारा। सिंह तो बेचारा रथहीन और शस्त्ररहित था। वीरधर्मानुसार त्रिपृष्ठ ने भी रथ और शस्त्रों का त्याग कर दिया और हिंस्र सिंह से द्वन्द्व करने लगा। देखते ही देखते उसने सिंह के जबड़े को विदीर्ण कर दिया। सिंह का प्राणान्त हो गया। इस पराक्रम को सुनकर राजा अश्वग्रीव को निश्चय हो गया कि त्रिपृष्ठ ही मेरा वध करने वाला वासुदेव होगा और उसे पहले ही समाप्त कर देने की योजना से त्रिपृष्ठ को सम्मानित करने के लिए अश्वग्रीव ने अपनी राजधानी में आमंत्रित किया। इस सन्देश के साथ त्रिपृष्ठ ने आमंत्रण को अस्वीकृत कर दिया कि जो राजा एक सिंह को भी नही मार सका, उसके द्वारा सम्मानित होने से हमारी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती। इस उत्तर से अश्वग्रीव कुपित हो गया और विशाल सेना के साथ उसने प्रजापति के राज्य पर आक्रमण कर दिया और त्रिपृष्ठ के हाथो मारा गया।

त्रिपृष्ठ जितना पराक्रमी था उतना ही, अकरुण और क्रूरकर्मी भी था। अतः उसने निकाचित कर्म का बंध कर लिया और इस प्रकार नयसार का १९वां भव तब हुआ, जब वासुदेव त्रिपृष्ठ का जीव सप्तम नरक मे नेरइया के रूप मे उत्पन्न हुआ। यही जीव अपने २०वें भव में सिंह, २१वें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया होकर २२वें भव में प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती हुआ।

प्रियमित्र ने पोट्टिलाचार्य के पास संयम ग्रहण कर दीर्घकाल तक घोर तप और साधनाएँ कीं और इसका जीव महाशुक्र कल्प में देव बना। यह नयसार का २३वां भव था। अपने २४वें भव में नयसार का जीव राजा नन्दन के रूप में उत्पन्न हुआ था और उसने तीर्थंकर गोत्र का बंधन किया तथा यथासमय काल कर वह प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देव बना। यह नयसार के जीवन का २५वां भव था।

[प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर राजा नन्द का (नयसार का) जीव ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि में स्थिर हुआ था। यह २६वां भव था और वहां से निकाल कर उसे रानी त्रिशला के गर्भ मे स्थापित किया गया यह नयसार के जीव का २७वां भव था—भगवान महावीर स्वामी के रूप में।]

जन्म-वंश

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में एक सदाचारी ब्राह्मण ऋषभदत्त का निवास था। उसकी पत्नी का नाम था—देवानन्दा। प्राणत स्वर्ग की सुखोपभोग-अवधि समाप्त होने पर राजा नन्दन (नयसार) का जीव वहां से च्युत हुआ और ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में स्थिर हो गया। उस समय आषाढ़ शुक्ला ६ का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। गर्भ-धारण की रात्रि को ही देवानन्दा ने १४ दिव्य स्वप्न देखे और उनकी चर्चा ऋषभदत्त से की। उसने स्वप्न फल पर विचार करके कहा कि देवानन्दा तुझे, पुण्यशाली, लोक-पूज्य, विद्वान और पराक्रमी पुत्र की प्राप्ति होने वाली है। यह सुनकर देवानन्दा परम प्रसन्न हुई और मनोयोगपूर्वक वह गर्भ का पालन करने लगी।

देवाधिप शक्रेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से यह ज्ञात कर लिया कि श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में अवस्थित हो चुके हैं तो उन्होंने आसन से उठकर भगवान की वन्दना की। इन्द्र के मन मे यह विचार आया कि परम्परानुसार तीर्थंकरों का जन्म पराक्रमी और उच्चवंशों में ही होता रहा है, कभी भी क्षत्रियेतर कुल में उन्होंने जन्म नहीं लिया। भगवान महावीर ने ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि में कैसे जन्म लिया। यह आश्चर्यजनक ही नहीं एक अनहोनी बात है। इन्द्र ने निर्णय किया कि मुझे चाहिए कि ब्राह्मण कुल से निकालकर मैं उनका साहरण उच्च और प्रतापी वंश में कराऊँ। यह सोचकर इन्द्र ने हरिणैगमेषी को आदेश दिया कि भगवान को देवानन्दा के गर्भ से निकालकर राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी के गर्भ में साहरण किया जाय।

उस समय रानी त्रिशला भी गर्भवती थी। हरिणैगमेषी ने अत्यन्त कौशल के साथ दोनों के गर्भों में पारस्परिक परिवर्तन कर दिया। उस समय तक भगवान ने देवानंदा के गर्भ में ८२ रात्रियों का समय व्यतीत कर लिया था और उन्हें ३ ज्ञान भी प्राप्त हो चुके थे। वह आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि थी।

उस रात्रि में ब्राह्मणी देवानंदा ने स्वप्न देखा कि पूर्व में जो १४ महान मंगलकारी शुभ स्वप्न वह देख चुकी थी, वे सभी उसके मुख के मार्ग से बाहर निकल गये हैं। उसे अनुभव होने लगा कि जैसे उसके शुभगर्भ का हरण हो गया है और वह अतिशय दुखी हुई।

महावीर स्वामी का रानी त्रिशला के गर्भ में साहरण होते ही उसने १४ मंगलदायी दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया। स्वप्न-दर्शन के प्रसंग से अवगत होकर जिज्ञासावश महाराजा सिद्धार्थ ने विद्वान स्वप्न फलदर्शकों को सादर आमंत्रित किया। इन विद्वज्जनो ने स्वप्नों पर गहन चिन्तन कर निर्णय दिया कि इन दिव्य स्वप्नों का दर्शन करने वाली माता तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे भाग्यशाली पुत्र को जन्म देती है। पंडितों की घोषणा से समग्र राज-परिवार मे प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी।

गर्भगत अभिग्रह एवं संकल्प

गर्भ में शिशु की स्वाभाविक गतिविधियाँ रहती हैं। वह यथोचित रूप से संक्रमणशील रहता है। यह गर्भस्थ भगवान महावीर के लिए भी स्वाभाविक ही था। किंतु एक दिन उन्हें इस बात का विचार हुआ कि मेरे गतिशील होने से माता को पीड़ा होती है। अतः उन्होंने अपनी गति को स्थगित कर दिया। शुभेच्छा से प्रारम्भ किये गये इस कार्य की विलोम प्रतिक्रिया हुई। अपने गर्भ की स्थिरता और अचंचलता देखकर माता त्रिशला रानी को चिंता होने लगी कि या तो मेरे गर्भ का ह्रास हो गया है, या फिर उसका हरण कर लिया गया है। इस कल्पना मात्र से माता घोर-कम्पिता हो गयी। इस अप्रत्याशित नवीन स्थिति से राजपरिवार में विषाद व्याप्त हो गया। अवधिज्ञान से भगवान इस सारी परिस्थिति से अवगत हो गये और उन्होंने पुनः अपनी गति प्रारम्भ कर समस्त आशंकाओं को निर्मूल कर दिया। माँ के मन में अपनी भावी

संतति के प्रति जो अगाध वात्सल्य और ममता का भाव था, गर्भस्थ भगवान को उसकी अनुभूति होने लगी। उन्होंने निश्चय किया कि ऐसे ममतामय माता-पिता के लिए मैं कभी कष्ट का कारण नहीं बनूंगा। भगवान ने गर्भस्थ-अवस्था में ही इस आशय का संकल्प धारण कर लिया कि अपने माता-पिता के जीवन-काल में मैं गृहत्यागी होकर, केशलुंचनकर दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा।

गर्भ की कुशलता का निश्चय हो जाने पर पुनः सर्वत्र हर्ष फैल गया। प्रमुदित मन से माता और अधिक संयमपूर्ण आहार-विहार के साथ रहने लगी। गर्भविधि के ९ मास और साढ़े ७ दिन पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की अर्द्ध रात्रि में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में (३० मार्च ५९९ ई० पू०) रानी ने एक परम तेजस्वी पुत्रश्रेष्ठ को जन्म दिया। शिशु एक सहस्र आठ लक्षणों और कुन्दनवर्णी शरीर वाला था। कुमार के जन्म से त्रिलोक में अनुपम आभा व्याप्त हो गयी और घोर यातनाओं के सहने वाले नारकीय जीवों को भी पलभर के लिए सुखद शांति की अनुभूति होने लगी। ५६ दिक्कुमारियों और ६३ इन्द्रों ने मेरु पर्वत पर भगवान का जन्म कल्याण महोत्सव मनाया। शक्रेन्द्र ने भगवज्जननी रानी त्रिशला को अभिवादन किया और भगवान को महोत्सव-स्थल पर ले आया। भगवान को विधिपूर्वक जब शक्रेन्द्र ने स्नान कराया तो उनके शरीर की आकार-लघुता देखकर उसका मन सशंक हो उठा और अवधिज्ञान से यह सब ज्ञात कर भगवान ने समस्त पर्वत को कम्पित कर दिया। इस प्रकार इन्द्र की शंका को भगवान ने दूर कर दिया। जन्मोत्सव सम्पन्न हो जाने पर भगवान को पुनः माता के समीप पहुंचाकर इन्द्र ने नमन के साथ प्रस्थान किया।

कुमार-जन्म से सारे राज्य में हर्ष ही हर्ष फैल गया। जन्मोत्सव के विशद् आयोजनों द्वारा यह हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त होने लगी। भगवान के जन्म के प्रभाव से ही सारे राज्य में श्री समृद्धि होने लगी और विपुल धन-धान्य हो गया था।

नामकरण

पिता महाराजा सिद्धार्थ ने यह अनुभव किया कि जब से कुमार माता के गर्भ में आये थे तब से राज्यभर में उत्कर्ष ही उत्कर्ष हो रहा था। समस्त राजकीय साधनों, शक्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व आदि में भी अद्भुत अभिवृद्धि हो रही थी। अतः पिता ने प्रसन्न मन से पुत्र का नाम रखा—वर्धमान।

बाल्यावस्था में भगवान का 'वर्धमान' नाम ही अधिक प्रचलित हुआ, किंतु भगवान के कुछ अन्य नाम भी थे—वीर, ज्ञातपुत्र, महावीर, सन्मति आदि। ये नाम भगवान की विभिन्न विशेषताओं के संदर्भ में विशिष्टता के साथ प्रयुक्त होते हैं। इनमें से एक नाम 'महावीर' इतना अधिक ग्राह्य और लोक-प्रचलित हुआ कि इसकी प्रसिद्धि ने अन्य नामों को लुप्तप्राय ही कर दिया।

भगवान को महावीर नाम से स्मरण करना, उनकी एक महती विशेषता को हृदयंगम करने का प्रतीक है। वस्तुतः भगवान 'वीर' ही नहीं महावीर थे। वीर तो यह

है, जो अपनी शक्ति, शौर्य और पराक्रम से अनीति, अनाचार और दुर्जनता का विनाश कर सत्य, न्याय और नीति को प्रतिष्ठित करने में यथोचित योग दे सके। भगवान महावीर स्वामी के जीवन का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वे वीरता की इस कसौटी से परे थे, बहुत आगे थे। अपार-अपार शक्ति और सामर्थ्य के स्वामी होते हुए भी उन्होंने विरोधियों को अपनी इस विशेषता के प्रयोग द्वारा पराजित नहीं किया। शांति, क्षमा, प्रेम आदि अन्य अमोघ अस्त्रों का ही प्रयोग कर विपक्षियों के हृदय को जीत लेने की भूमिका निभाने में वे अद्वितीय थे। अतः अहिंसा शक्ति से सम्पन्न भगवान 'वीर' नहीं, अपितु महावीर थे और इस आशय में उन्होंने अपने इस नाम को चरितार्थ कर दिया था।

बाल्य जीवन

क्षत्रियकुण्ड उस काल में बड़ा सुख-सम्पन्न और वैभवशाली राज्य था और भगवान के प्रादुर्भाव से इसमें और भी चार चाँद लग गये थे। परम ऐश्वर्यशाली राज-परिवार के सुख-वैभव और माता-पिता के सघन ममत्व के वातावरण में कुमार वर्धमान पालित-पोषित होने लगे। शिशु तन और मन से उत्तरोत्तर विकसित होने लगा और भगवान के जन्मजात गुण प्रतिभा, विवेक, तेज, ओज, धैर्य, शौर्य आदि में आयु के साथ-साथ सतत रूप से अभिवृद्धि होने लगी। बाल्यावस्था से ही असाधारण बुद्धि और अद्भुत साहसिकता का परिचय भगवान के कार्य-कलापों से मिला करता था।

साहस एवं निर्भीकता

भगवान के जीवन की एक घटना तब की है जब उनकी आयु मात्र ८ वर्ष की थी। वे अपने बाल-सखाओं के साथ वृक्ष की शाखाओं में उछल-कूद के एक खेल में मग्न थे। इस वृक्ष पर एक भयानक नाग लिपटा हुआ था। जब बालकों का ध्यान उसकी ओर गया तो उनकी साँस ही थम गई। भयातुर बालकों में भगदड़ मच गई। उस समय वर्धमान ने सभी को अभय दिया और साहस के साथ उस विषधर को उठा कर एक ओर रख दिया। यह नाग साधारण सर्प नहीं था। बालक वर्धमान के साहस और शक्ति की गाथाओं का गान तो सर्वत्र होने ही लगा था। एक बार स्वर्ग में देव-राज इन्द्र ने इनकी इस विषय में प्रशंसा की थी और एक देव ने इंद्र के कथन में अविश्वास प्रकट करते हुए स्वयं परीक्षा करके तुष्ट होने की ठान ली थी। वही देव नाग के वेश में प्रभु की निर्भीकता एवं साहस की परख करने आया था।

इसी प्रकार वर्धमान अन्य साथियों के साथ 'तनदूषक' नामक खेल खेल रहे थे, जिसमें क्रम-क्रम से दो बालक एक स्थान से किसी लक्ष्य तक दौड़ते हैं। इसमें पराजित होने वाला खिलाड़ी विजयी खिलाड़ी को कन्धे पर बिठाकर लौटता है। एक अपरिचित बालक के साथ वर्धमान का युग्म बना। प्रतिस्पर्धा में वर्धमान जीते और नियमानुसार ज्योंही वे पराजित बालक के कंधे पर चढ़े, कि वह खिलाड़ी अपने देह के आकार को बढ़ाने लगा। यह आकाश में ऊपर से ऊपर को बढ़ता ही चला गया। इस माया को

देखकर अन्य खिलाड़ी स्तंभित एवं भयभीत हो गये, किंतु निर्भीक वर्धमान तनिक भी विचलित नहीं हुए उन्होंने इस मायावी पर एक ही मुष्टि प्रहार ऐसा किया कि उसकी देह संकुचित होने लगी और वर्धमान भूमि पर आ गये। यह अपरिचित खिलाड़ी भी वास्तव में वही देव था, जिसे पहली परीक्षा में भी वर्धमान के साहस मे पूर्ण विश्वास नहीं हो पाया था। अब देवेन्द्र की उक्ति से सहमत होते हुए अपना छद्म वेश त्याग कर वह देव वास्तविक रूप में आया और भगवान से क्षमा-याचना करने लगा। ऐसे शक्ति, साहस और अभय के प्रतिरूप थे भगवान महावीर।

बुद्धि वैभव के धनी

तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होते है और कही से उन्हें औपचारिक रूप से ज्ञान-प्राप्ति की आवश्यकता नही होती। किंतु लोक-प्रचलन के अनुसार उन्हें भी कलाचार्य की पाठशाला में विद्याध्ययनार्थ भेजा गया। गुरुजी बालक के बुद्धि-वैभव से बड़े प्रभावित थे। कभी-कभी तो वर्धमान की ऐसी-ऐसी जिज्ञासाएं होती, जिनका समाधान वे खोज नहीं पाते। एक समय एक विप्र इस पाठशाला मे आया और गुरुजी से एक के पश्चात् एक प्रश्न करने लगा। प्रश्न इतने जटिल थे कि आचार्य के पास उनका कोई उत्तर नहीं था। बड़ी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। बालक वर्धमान ने गुरुजी से सविनय अनुमति मांगी और विप्र के प्रत्येक प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दे दिया। कलाचार्य ने स्वीकारोक्ति की कि वर्धमान परम बुद्धिशाली है—मेरा भी गुरु होने की योग्यता इसमे है। यह विप्रवेशधारी स्वयं इंद्र था, जिसने कलाचार्य से सहमत होते हुए अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि यह साधारण शिक्षा वर्धमान के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। ऐसे अनेक प्रसंग वर्धमान के जीवन में बाल्यावस्था में ही आये, जिनसे उनके अद्भुत बुद्धि-चमत्कार का परिचय मिलता था और भावी तीर्थंकर की बीज रूप में उपस्थिति का जिनसे आभास हुआ करता था। बालक वर्धमान का प्रत्येक कार्य विशिष्ट और उनके व्यक्तित्व की विचित्रता व असामान्यता का द्योतक हुआ करता था।

चिन्तनशील युवक वर्धमान

क्रमशः वर्धमान की जीवन-यात्रा के पड़ाव एक-एक कर बीतते रहे और तेजस्वी व्यक्तित्व के साथ उन्होंने यौवन वय में पदार्पण किया। आकर्षक और मन-भावनी मूरत थी वर्धमान भगवान की। उल्लास, उत्साह और आनन्द ही उनके जीवन के अन्य नाम थे। ३० वर्ष की आयु तक उन्होने संसार के समस्त विषयों का उन्मुक्त उपभोग किया। किन्तु ज्ञातव्य यह है कि यह उनका मात्र बाह्य व्यवहार था, आत्मा की सहज अभिव्यक्ति नही। उनका आभ्यन्तरिक स्वरूप तो इससे सर्वथा भिन्न था। संसार के सुख-समुद्र में उनका तन ही निमग्न था, मन नही। 'चिन्तनशीलता' उनकी सहज प्रवृत्ति थी, जिसने उन्हें अन्तर्मुखी बना दिया था। जगत और जीवन की जटिल समस्याओं और प्रश्नों को समझना और अपनी मौलिक बुद्धि से उनके हल खोजना—उनका सहज धर्म होता चला गया। इस प्रकार मन से वे तटस्थ और निस्पृह थे।

यौवन ने इस प्रकार न केवल तन अपितु मन के तेज को भी अभिवर्धित कर दिया था। उनका मनोबल एवं चिंतन धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रसर होता रहा।

जीवन और जगत के सम्बन्ध में उनका प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा वे उसकी विकारग्रस्तता से अधिकाधिक परिचित होते गये। उन्होंने देखा कि क्षत्रिय गण युद्ध में जो शौर्य प्रदर्शन करते हैं—वह भी स्वार्थ की भावना के साथ होता है कि यदि खेत रह गये तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और विजयी हुए तो शत्रु की सम्पत्ति और कामिनियों पर हमारा अधिकार होगा ही। समाज में बेचारे निर्बल वर्ग, सबलों के लिए आखेट बने रहते हैं, यहाँ तक कि जिन पर इन असहायों की रक्षा का दायित्व है, वे स्वयं ही भक्षक बने हुए है। बाड़ ही खेतों को लील रही है। सर्वत्र लोभ, लिप्सा का अनंत प्रसार है। धर्म जो जीवन-चक्र की धुरी है—वह स्वयं ही विकृत हो रहा है और इसकी आड़ में धर्माधिकारीगण स्वार्थवश निरीह जनता को कुमार्गों पर धकेल रहे हैं। धर्म के नाम पर हिंसा और कर्मकाण्ड की कुत्सित विभीषिका ने अपना आसन जमा रखा है। सामाजिक न्याय और आर्थिक समता का कहीं दर्शन नही होता और असहायजनों की रक्षा और सुविधा के लिए किसी के मन मे उत्साह नहीं है। वर्ग-भेद का भीषण रोग भी उन्होंने समाज में पाया जो पारस्परिक स्नेह, सौजन्य, सहानुभूति, हित-चिंतन आदि के स्थान पर घृणा, क्रोध, हिंसा, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों को विकसित करता चला जा रहा है। इन दुर्दशाओं से वर्धमान का चित्त चीत्कार करने लगा था और भटकी हुई मानवता को सन्मार्ग पर लगाने के लिए वे प्रयत्नरत होने को सोचने लगे थे।

जीवन और जगत के ऐसे स्वरूप का अनुभव कर महावीर और अधिक चिंतन-शील रहने लगे। उन्होंने निश्चय किया कि मैं ऐसे संसार से तटस्थ रहूँगा और उनकी गति बाहर के स्थान पर भीतर की ओर रहने लगी। वे अत्यन्त गम्भीर रहने लगे। मानव जाति को विकारमुक्त कर उसे सुख-शांति के वैभव से सम्पन्न करने का मार्ग खोजने की उत्कट प्रेरणा उनके मन में जागने लगी। फलतः भगवान आत्म-केन्द्रित रहने लगे और जगत से उदासीन हो गये। उनकी चिंतन-प्रवृत्ति सतत रूप से सशक्त होने लगी, जो उनके लिए विरक्ति का पहला चरण बनी। वे गहन से गहनतर गांभीर्य धारण करते चले गये।

गृहस्थ-योगी

श्रमण भगवान की इस तटस्थ और उदासीन दशा ने माता-पिता को चिन्ता-ग्रस्त कर दिया। उन्हें भय होने लगा कि कहीं पुत्र असमय ही वीतरागी न हो जाय और संकट को दूर करने के लिए वे भगवान का विवाह रचाने की योजना बनाने लगे। भगवान के योग्य वधू की खोज आरम्भ हुई। यह सारा उपक्रम देखकर महावीर तनिक विचित्र-सा अनुभव करने लगे। प्रारम्भ में तो उन्होंने परिणय-सूत्र-बन्धन के लिए अपनी स्पष्ट असहमति व्यक्त कर दी, किन्तु उनके समक्ष एक समस्या और भी थी। वे अपने

माता-पिता को रंचमात्र भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते थे। वे जानते थे कि योग्य वधू का स्वागत करने के लिए माता का मन कितना लालायित और उत्साहित है ? पिता अपने पुत्र को गृहस्थ रूप में देखने की कितनी तीव्र अभिलाषा रखते हैं ? और यदि मैंने विवाह के लिए अनुमति न दी तो इनके ममतायुक्त कोमल मन को गम्भीर आघात पहुँचेगा। इस स्थिति को बचाने के लिए तो भगवान ने यह संकल्प तक ले रखा था कि मैं माता-पिता के जीवित रहते दीक्षा-ग्रहण नही करूँगा। फिर वे भला विवाह-प्रसंग को लेकर उन्हें कैसे कष्ट दे पाते ! उन्होंने आत्म-चिन्तन के पश्चात् यही निर्णय लिया कि माता-पिता की अभिलाषा की पूर्ति और उनके आदेश का आदर करते हुए मैं अनिच्छा होते हुए भी विवाह कर लूं। अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन के समक्ष अपने गूढ़ हृदय को उन्होने खोल कर रख दिया। महावीर ने उन्हें बताया कि संसार की क्षणभंगुरता और असारता से मैं भली-भांति परिचित हो गया हूँ और इसमें ग्रस्त होने का आत्मा पर जो कुप्रभाव होता है—उसे जानकर मैं सर्वथा अनासक्त हो गया हूँ। मात्र माता-पिता की प्रसन्नता के लिए मैं विवाहार्थ स्वीकृति दे रहा हूँ। निदान, परम गुण-वती सुन्दरी यशोदा के साथ भगवान का परिणय-सम्बन्ध हुआ। यशोदा महासामन्त समरवीर की राजकुमारी थी और महावीर की प्रतिष्ठा और कुल-गौरव के सर्वथा योग्य थी। यशोदा और महावीर का सुखी दाम्पत्य-जीवन आरम्भ हुआ। यशोदा ने एक पुत्री को भी जन्म दिया जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। मात्र बाह्य रूप से ही भगवान सासारिक थे अन्यथा उनका मानस तो कभी का ही वैरागी हो गया था। विषयों के अपार सागर मे वे निर्लिप्त भाव से विहार करते रहे। उनका मन तो शाश्वत आनन्द की खोज में सक्रिय रहा करता था।

गर्भस्थ अवस्था में भगवान ने संकल्प जो ग्रहण किया था (कि माता-पिता को मानसिक पीड़ा से मुक्त रखने के प्रयोजन से उनके जीवित रहते वे दीक्षा अंगीकार नहीं करेंगे)—उसके निर्वाह की साध ने ही उन्हें रोक रखा था। शरीर से ही दीक्षित होना शेष रह गया था, अन्यथा संसार नही तो भी संसार के प्रति रुचि का तो वे त्याग ही चुके थे।

इसी प्रकार २८ वर्ष की आयु व्यतीत हो गयी। उनका वैराग्य भाव परिपक्व होने लगा और माता-पिता का समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। आत्म-वचन के सुदृढ़ पालक भगवान महावीर के मनःसिन्धु में वैराग्य का ज्वार चढ़ आया। अब उन्हें अपने मार्ग में किसी अवरोध की प्रतीति नही हो रही थी, किन्तु अभी एक और आदेश का निर्वाह उनके आज्ञा-पालक मन को पूरा करना था। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन का अतिशय आदर किया करते थे। अब तो नन्दिवर्धन वर्धमान के लिए पिता के ही स्थान पर थे। नन्दिवर्धन भी उन्हें अतिशय स्नेह दिया करते थे। इधर भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ विचार कर लिया और उन्होंने मर्यादा के अनुरूप अपने अग्रज से तदर्थ अनुमति प्रदान करने की याचना की। इस समय मातृ-पितृविहीन हो जाने के कारण नन्दिवर्धन की दशा बड़ी करुणाजनक थी। वे स्वयं ही अनाश्रित-सा अनुभव कर

रहे थे और अद्भुत विपन्नता का समय व्यतीत कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति मे अपने प्रिय भ्राता वर्धमान का मन्तव्य सुनकर उनके हृदय को एक और भीषण आघात लगा। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा कि इस असहाय अवस्था में मुझे तुमसे बड़ा सहारा मिल रहा है। तुम भी यदि मुझे एकाकी छोड़ गये तो मेरा और इस राज्य का क्या भविष्य होगा ? इस विषय मे कुछ भी कहा नहीं जा सकता। कदाचित् मेरा जीवित रहना ही असम्भव हो जायगा। अभी तुम गृह-त्याग न करो""इसी में हम सब का शुभ है। इस हार्दिक अभिव्यक्ति ने विरक्त महावीर के निर्मल मन को द्रवित कर दिया और वे अपने आग्रह को दुहरा नहीं सके। नन्दिवर्धन के अश्रु-प्रवाह में वर्धमान की मानसिक दृढ़ता बह निकली और उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम को आगामी कुछ समय तक के लिए स्थगित रखने का निश्चय कर लिया।

अग्रज नन्दिवर्धन की मनोकामना के अनुरूप महावीर अभी गृहस्थ तो बने रहे, किन्तु उनकी उदासीनता और गहन होती गयी। दो वर्ष की यह अवधि उन्हें अत्यन्त दीर्घ लगी, क्योंकि जिस लक्ष्य प्राप्ति की कामना उनकी मानसिक साध को तीव्र से तीव्रतर करती चली जा रही थी—उस ओर चरण बढ़ाने में भी वे स्वयं को विवश अनुभव कर रहे थे। स्वेच्छा से ही उन्होंने अपने चरणों में कठिन लोह-शृंखलाओं के बंधन डाल लिये थे। किन्तु साधक को अपने इस स्वरूप के निर्वाह के लिए विशेष परिवेश और स्थल की अपेक्षा नहीं रहती। वह तो जहाँ भी और जिन परिस्थितियों व वातावरण में रहे, उनकी प्रतिकूलता से अप्रभावित रह सकता है। सच्चे अनासक्तों के इस लक्षण में भगवान तनिक भी पीछे नहीं थे।

भगवान ने इस अवधि मे राजप्रासाद और राजपरिवार में रहकर भी योगी का-सा जीवन व्यतीत किया और अपनी अद्भुत सयम-गरिमा का परिचय दिया। अपनी पत्नी को उन्होंने बहनवत् व्यवहार दिया और समस्त उपलब्ध सुख-सुविधाओं के प्रति घोर विकर्षण उनके मन में बना रहा। अब क्या वन और क्या राजभवन ? उनके लिए राजभवन ही वन था। अद्भुत गृहस्थ-योगी का स्वरूप उनके व्यक्तित्व में दृश्यमान होता था।

महाभिनिष्क्रमण

भगवान को अत्यन्त दीर्घ अनुभव होने वाली इस अवधि की समाप्ति भी अन्ततः हुई ही। लोकान्तिक देवों ने आकर वर्धमान से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की और वे वर्षीदान में प्रवृत्त हुए। वर्षपर्यन्त उदारतापूर्वक वे दान देते रहे और मार्गशीर्ष कृष्णा १० का वह शुभ समय भी आया जब भगवान ने गृह-त्याग कर आत्म और जगत कल्याण की भी यात्रा आरम्भ की। इस विकट यात्रा का प्रथम चरण अभिनिष्क्रमण द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इन्द्रादि देवों द्वारा महाभिनिष्क्रमणोत्सव का आयोजन किया गया। अपने नेत्रों को सफल कर लेने की अभिलाषा के साथ हजारों लाखों जन दूर-दूर से इस समारोह में सम्मिलित होने को आये। चन्द्रप्रभा शिविका में आरूढ़ होकर

वर्धमान क्षत्रियकुण्डवासियों के जय-जयकार के तुमुलघोष के मध्य नगर के मार्गों को पार करते हुए ज्ञातखण्ड उद्यान में पधारे।

स्वतः दीक्षा ग्रहण

ज्ञातखण्ड उद्यान में आगमन होने पर प्रभु ने समस्त वस्त्रालंकारों का त्याग कर दिया। स्वयं ही पंचमुष्टि लुंचन कर भगवान ने संयम स्वीकार कर लिया। तत्काल ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो गया। यह अद्भुत दीक्षा-समारोह था, जिसमें वर्धमान स्वयं ही दीक्षादाता और स्वय ही दीक्षा-ग्राहक थे। वे स्वयं स्वयंबुद्ध थे, उनका अन्तः-करण स्वतःप्रेरित एवं जागृत था। वे ही अपने लिए मार्ग के निर्माता और स्वयं ही उस मार्ग के पथिक थे।

भगवान महावीर ने इस आत्मदीक्षा के पश्चात् इस विशाल परिषद् में सिद्धों को सश्रद्धा नमन किया और इस आशय का संकल्प किया—

"अब मेरे लिए सभी पापकर्म अकरणीय हैं। मेरी इनमें से किसी में प्रवृत्ति नहीं रहेगी। आज से मैं सम्पूर्ण सावद्य कर्म का ३ करण और ३ योग से त्याग करता हूँ।"

यह समारोह राग पर विराग की विजय का साक्षी था। समस्त उपस्थिति इस अनुपम त्याग को देखकर मुग्ध और स्तब्ध-सी रह गयी थी।

साधना : उपसर्ग एवं परीषह

दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान ने उपदेश क्रम प्रारम्भ नहीं कर दिया। इस हेतु अभी तो उन्हें ज्ञान प्राप्त करना था, उस मार्ग की खोज उन्हें करनी थी, जो जीव और जगत् के लिए कल्याणकारी हो। और उसी मार्ग के अनुसरण का उपदेश भगवान द्वारा किया जाने वाला था। उस मार्ग को खोजने के लिए प्रथमतः आत्मजेता होना अपेक्षित था और इस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कठोर साधनाओं और घोर तपश्चर्याओं के साधनों को अपनाना था। भगवान ने अब अपनी सतत साधनाओं का क्रम आरम्भ कर दिया। मन ही मन उन्होंने यह संकल्प ग्रहण किया—"जब तक मैं केवलज्ञान का अलौकिक आलोक प्राप्त न कर लूँगा—तब तक शान्तिकान्त वनों में रहकर आत्म-साक्षात्कार हेतु सतत प्रयत्नशील रहूँगा।"

मौन रहकर श्रमणसिंह महावीर जीवन और जगत की गुत्थियों को सुलझाने के लिए मनो-मन्थन में लीन रहते। उच्च पर्वत शिखरों, गहन कन्दराओं, सरिता-तटों पर वे ध्यानावस्थित रहने लगे। आहार-विहार पर अद्भुत नियन्त्रण स्थापित करने में भी वे सफल रहे। कठोर प्राकृतिक आघातों को सहिष्णुता और धैर्य के साथ झेलने की अप्रतिम क्षमता उनमें थी। अहिंसा का व्यवहार और अप्रमाद उनकी मूलभूत विशेषताएँ रहीं। धीर-गम्भीर महावीर निर्भीकता के साथ गहन वन प्रान्तों में विहार करते हुए आत्म-साधन की सीढ़ियों को एक के बाद एक पार करते चले गये।

सन्नद्ध रहते हैं और प्राणों की बाजी भी लगा देते हैं और तुम हो कि अपनी कुटिया की भी रक्षा नहीं कर पाये। पक्षी भी तो अपने घोंसलों की रक्षा का दायित्व सावधानी के साथ पूरा करते हैं। भगवान ने आक्षेप का कोई प्रतिकार नहीं किया, सर्वथा मौन रहे। किन्तु उनका मन अवश्य सक्रिय हो गया। वे सोचने लगे ये लोग मेरी अवस्था और मनोवृत्तियों से अपरिचित हैं। मेरे लिए क्या कुटिया और क्या राजभवन ? यदि मुझे कुटिया के लिए ही मोह रखना होता तो राजप्रासाद ही क्यों त्यागता ? उन्होंने अनुभव किया कि इस आश्रम में साधना की अपेक्षा साधनों का अधिक महत्त्व माना जाता है, जो राग उत्पन्न करता है। अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि ऐसे वैराग्य-बाधक स्थल पर मैं नहीं रहूँगा। वे निश्चयानुसार आश्रम त्याग कर चुपचाप विहार कर गये। इसी समय भगवान ने उन ५ प्रतिज्ञाओं को धारण किया जो आज भी सच्चे साधक के लिए आदर्श हैं—

(१) ईर्ष्या, वैमनस्य का भाव रखने वालों के साथ निवास न करना।

(२) साधना के लिए सुविधाजनक, सुरक्षित स्थल का चुनाव नहीं करना। कायोत्सर्ग के भाव के साथ शरीर को प्रकृति के अधीन छोड़ देना।

(३) भिक्षा, गवेषणा, मार्ग-शोध और प्रश्नों के उत्तर देने के प्रसंगों के अतिरिक्त सर्वथा मौन रहना।

(४) कर-पात्र में ही भोजन ग्रहण करना।

(५) अपनी आवश्यकता को पूरा करने के प्रयोजन से किसी गृहस्थ को प्रसन्न करने का प्रयत्न नहीं करना।

यक्ष बाधा : अटल निश्चय

विचरणशील साधक महावीर स्वामी अस्थिकग्राम में पहुँचे। ग्राम के समीप ही एक प्राचीन और ध्वस्त मंदिर था, जिसमें यक्ष बाधा बनी रहती है—इस आशय का संवाद भगवान को भी प्राप्त हो गया। ग्रामवासियों ने यह सूचना देते हुए भगवान से अनुरोध किया था कि वे वहाँ विश्राम न करें। वास्तव में वह मन्दिर सुनसान और बड़ा डरावना था। रात्रि में कोई यहाँ रुकता ही नहीं था। यदि कोई दुस्साहस कर बैठता, तो वह जीवित नहीं बच पाता था।

भगवान ने तो साधना के लिए सुरक्षित स्थान न चुनने का व्रत धारण किया था। मन में सर्वथा निर्भीक थे ही। अतः उन्होंने उसी मन्दिर को अपना साधना-स्थल बनाया। वे वहाँ खड़े होकर ध्यानस्थ हो गये। ऐसे निडर, साहसी, व्रतपालक और अटल निश्चयी थे—भगवान महावीर स्वामी।

रात्रि के घोर अन्धकार में अत्यन्त भीषण अट्टहास उस मन्दिर में गूँजने लगा। भयानक वातावरण वहाँ छा गया, किन्तु भगवान निश्चल ध्यानलीन ही रहे। यक्ष को अपने पराक्रम की यह उपेक्षा असह्य हो उठी। वह क्रुद्ध हो उठा और विकराल हाथी,

हिंस्र सिंह, विशालकाय दैत्य, भयंकर विषधर आदि विभिन्न रूप धरकर भगवान को आतंकित करने के प्रयत्न करता रहा। अनेक प्रकार से भगवान को उसने असह्य, घोर कष्ट पहुँचाये। साधना-अटल महावीर तथापि रंचमात्र भी चंचल नहीं हुए। वे अपनी साधना में तो क्या विघ्न पड़ने देते, उन्होंने आह्-कराह तक नहीं की।

जब सर्वाधिक प्रयत्न करके और अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग करके भी यक्ष भगवान को किसी प्रकार कोई हानि नहीं पहुँचा सका, तो वह परास्त होकर लज्जित होने लगा। उसने यह विचार भी किया कि सन्त कोई असाधारण व्यक्ति नहीं है—महामानव है। यह धारणा बनते ही वह अपनी समस्त हिंसावृत्ति का त्याग कर भगवान के चरणों में नमन करने लगा। भविष्य में किसी को त्रस्त न करने का प्रण लेकर यक्ष ने वहाँ से प्रस्थान किया। भगवान वहीं साधनालीन खड़े ही रहे।

चण्डकौशिक का उद्धार : अमृत भाव की विजय

एक और प्रसंग साधक महावीर भगवान के जीवन का है, जो हिंसा पर अहिंसा की विजय का प्रतीक है। एक बार भगवान को कनकखल से श्वेताम्बी पहुँचना था। इस हेतु दो मार्ग थे। एक मार्ग यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक लम्बा था, किन्तु उसी का उपयोग किया जाता था और दूसरा मार्ग अत्यन्त लघु होते हुए भी बड़ा भयंकर था। अतः कोई इस मार्ग से यात्रा नहीं करता था। इसमें आगे एक घने वन में भीषण नाग चण्डकौशिक का निवास था जो 'दृष्टि-विष' सर्प था। मात्र अपनी दृष्टि डालकर ही यह जीवों को डस लिया करता था। इसके भीषण विष की विकरालता के विषय में यह प्रसिद्ध था कि उसकी फूत्कार मात्र से उस वन के सारे जीव-जन्तु तो मर ही गये हैं, सारी वनस्पति भी दग्ध हो गयी है। इस प्रचण्ड नाग का बड़ा भारी आतंक था।

भगवान ने श्वेताम्बी जाने के लिए इसी लघु किन्तु अति भयंकर मार्ग को चुना। कनकखलवासियों ने भगवान को इस भयंकर विपत्ति से अवगत कराया और इस मार्ग पर न जाने का आग्रह भी किया किन्तु भगवान का निश्चय तो अटल था। वे इसी मार्ग पर निर्भीकतापूर्वक अग्रसर होते रहे। भयंकर विष को मानो अमृत का प्रवाह पराजित करने को मोत्साह बढ़ रहा हो।

भगवान सीधे जाकर चण्डकौशिक की बांबी पर ही खड़े होकर ध्यानलीन हो गये। कष्ट और संकट को निमंत्रित करने का और कोई उदाहरण इस प्रसंग की समता भला क्या करेगा? घोर विष को अमृत बना देने की शुभाकांक्षा ही भगवान की अन्तः-प्रेरणा थी, जिसके कारण इस भयप्रद स्थल पर भी वे अचंचल रूप से ध्यानलीन बने रहे।

भयानक विष से वातावरण को दूषित करता हुआ चण्डकौशिक भू-गर्भ से बाहर निकल आया और अपने से प्रतिद्वन्द्विता रखने वाले एक मनुष्य को देखकर वह हिंसा के प्रबल भाव से भर गया। मेरी प्रचण्डता से यह भयभीत नहीं हुआ और मेरे निवास-स्थान पर ही आकर खड़ा हो गया है—यह देखकर वह बौखला गया और उसने

पूर्ण शक्ति के साथ भगवान के चरण पर दंशाघात किया। इस कराल प्रहार से भी भगवान की साधना में कोई व्याघात नहीं आया। अपनी इस प्रथम पराजय से पीड़ित होकर नाग ने तब तो असंख्य स्थलों पर भगवान को डस लिया, किन्तु भगवान की अचंचलता में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आया। इस पराभव ने सर्प के आत्मबल को ढहा दिया। वह निर्बल और निस्तेज सिद्ध हो रहा था। यह विष पर अमृत की अनुपम विजय थी।

तभी भगवान के मुख से प्रभावी और अत्यन्त मधुरवाणी मुखरित हुई—"बुज्झ बुज्झ किं न बुज्झई।" सर्प, तनिक सोच—अपने क्रोध को शान्त कर। अमृतोपम इस वाणी से चण्डकौशिक का भीषण विष शान्त हो गया। भगवान के मुखश्री का वह टकटकी लगाकर दर्शन करता रहा। ज्ञान की प्राप्ति कर उसे अतीत के कुकर्म स्मरण होने लगे और उसे आत्मग्लानि होने लगी। चण्डकौशिक का कायापलट ही हो गया। उसने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया। अन्य प्राणियों से कष्टित होकर भी उसने कभी आक्रमण नहीं किया। अहिंसक वृत्ति को अपना लेने के कारण चण्डकौशिक के प्रति सारे क्षेत्र में श्रद्धा का भाव फैल गया और ग्रामवासी उस पर घृत-दुग्धादि पदार्थ चढ़ाने लगे। इन पदार्थों के कारण चींटियाँ उस पर चढ़ गयीं और उसकी सारी देह को ही नोंच-नोंचकर खा गयी। किन्तु उसके मन में प्रतिहिंसा का भाव न आया। इस प्रकार देह-त्याग कर अपने जीवन के अन्तिम काल के शुभाचरण के कारण चण्डकौशिक का जीव ८वें देवलोक का अधिकारी बना।

संगम का विकट उपसर्ग

इस प्रकार भगवान ने उपसर्गों एवं परीषहों को सहिष्णुतापूर्वक झेलते हुए जब अपनी साधना के १० वर्ष व्यतीत कर लिये, तब की घटना है। स्वर्ग में, देवसभा में सुरराज इन्द्र ने भगवान की साधना-दृढ़ता, करुणा, अहिंसा, क्षमाशीलता आदि सद्गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देवगण चकित रहे, किन्तु एक मनुष्य की इतनी प्रशंसा एक देव 'संगम' सहन न कर पाया। भयानक दुर्विचार के साथ वह पृथ्वी लोक पर आया। उस समय भगवान अनार्य क्षेत्र में पेढालग्राम के बाहर पोलास चैत्य में महाप्रतिमा तप में थे। वे ध्यानस्थ खड़े थे। संगम ने आकर भगवान को नानाविधि से यातनाएँ देना आरम्भ किया। संध्या समय मे सारा वातावरण अत्यन्त भयानक हो गया। वेगवती आँधियो ने आकर भगवान के तन को धूलियुक्त कर दिया। रौद्ररूप धारण कर प्रकृति ने अनेक कष्ट दिये, किन्तु भगवान की साधना अटल बनी रही।

संगम भी इतनी शीघ्रता से पराजय स्वीकारने वाला कहाँ था? मतवाला हाथी, भयानक सिंह आदि अनेक रूप बनाकर वह भगवान को आतंकित और तपच्युत करने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु उसका यह दाँव भी खाली गया। भगवान पर इन सब का कोई प्रभाव नही हुआ। भय से भगवान को प्रभावित होते न देखकर उसने एक अन्य युक्ति का आश्रय लिया। यह अब भगवान के मन पर प्रहार करने लगा।

संगम ने कुछ ऐसी माया रची कि भगवान को आभास होने लगा, जैसे उनके स्वजन एकत्रित हुए हैं। पत्नी यशोदा उनके समक्ष रो-रोकर विलाप कर रही है और अपनी दुर्दशा का वर्णन कर रही है कि नन्दिवर्धन ने उसे अनादृत कर राजभवन से निष्कासित कर दिया है। पिता के वियोग में प्रियदर्शना भी अत्यन्त दुखी है। भगवान के मन को ये प्रवंचनाएँ भी क्या प्रभावित करती ? संगम को पराजय पर पराजय मिलती जा रही थी और भगवान अडिगता की कसौटी पर खरे उतरते जा रहे थे।

निदान, संगम ने अबकी बार फिर नया दाँव रखा। सारी प्रकृति सहसा सुरम्य हो उठी। सर्वत्र वासंतिक मादकता का प्रसार हो गया। शीतल-मन्द, सुगंधित पवन प्रवाहित होने लगी। भाँति-भाँति के सुमन मुस्कराने लगे। भ्रमरों की गुंजार से सारा क्षेत्र भर गया। ऐसे सुन्दर और सरस वातावरण में भगवान के समक्ष अपनी ५ अन्य सखियों के साथ एक अनुपम रूपमती युवती आयी। उसका कोमल, सुरंगी, सौन्दर्य सम्पन्न अधखुला अंग भाँति-भाँति के आभूषणों से सज्जित था और अत्यन्त कलात्मकता के साथ किया गया श्रृंगार उसके रूप को अद्भुत निखार दे रहा था। यह सुन्दर भाँति-भाँति के हावभावों, आंगिक चेष्टाओं आदि से भगवान को अपनी ओर आकर्षित करने लगीं। भगवान का चित्त भी अपनी ओर आकृष्ट करने में विफल रहने वाली यह सुन्दरी अन्ततः बड़ी निराश और क्षुब्ध हुई। यह विफलता सुन्दरी की नहीं स्वयं देव संगम की थी। वह बड़ा कुंठित हो चला था। वह सोच भी नहीं पा रहा था कि पराजय की लज्जा से बचने के लिए अब क्या उपाय किया जाय ? किस प्रकार महावीर को चंचल और अस्थिर सिद्ध किया जाय ?

खीझ की अकुलाहट से ग्रस्त संगम ने फिर एक नवीन संकट उपस्थित कर दिया। प्रातःकाल हो गया था। कुछ चोर राजकीय कर्मचारियों को साथ लेकर वहाँ उपस्थित हुए। इन चोरों ने भगवान की ओर इंगित करते हुए राज्य-कर्मचारियों से कहा कि यही हमारा गुरु है। इसने हमें चोरी करना सिखाया है। क्रुद्ध होकर कर्मचारियों ने भगवान की देह पर डंडे बरसाना आरम्भ कर दिया। शक्ति और अधिकार से अंधे इन कर्मचारियों ने भगवान को जितना दण्डित कर सकते थे, किया। किन्तु महावीर स्वामी तो सहिष्णुता की प्रतिमा ही थे। वे मौन बने रहे, अडिग बने रहे। उनकी साधना यथावत् निरन्तरित रही।

इस प्रकार संगम भगवान को ६ माह की दीर्घावधि तक पीड़ित करता रहा, किन्तु उसे अपने उद्देश्य में रंचमात्र भी सफलता नहीं मिली। अन्त में उसे स्पष्टतः अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। वह भगवान से कहने लगा कि धन्य हैं आप और आपकी साधना। मैं समस्त क्रूर कर्मों और माया का प्रयोग करके भी आपको विचलित नहीं कर पाया। पराजित होकर ही मुझे प्रस्थान करना पड़ रहा है।

भगवान महावीर का हृदय इस समय असीम करुणा से भर गया। उनके नेत्र अश्रुपूरित थे। विदा होते हुए जब संगम ने इस स्थिति का कारण पूछा तो भगवान

ने उत्तर मे कहा कि मेरे सम्पर्क में आने वालों का पाप-भार कम हो जाता है, किन्तु तू तो और अधिक कर्मों को बांधकर जा रहा है। जो तेरे लिए भावी कष्ट के कारण होंगे। अपने घोर अपराध के प्रति भी भगवान के मन में ऐसा अगाध करुणा का भाव रहता था। वे संगम के भावी अनिष्ट से कष्टित हो रहे थे।

अन्तिम उपसर्ग

जब भगवान ने अपनी साधना के १२ वर्ष व्यतीत कर लिये तो उन्हें अन्तिम और अति दारुण उपसर्ग उत्पन्न हुआ था। वे विहार करते हुए छम्माणीग्राम में पहुंचे थे। वहाँ ग्राम के बाहर ही एक स्थान पर वे ध्यानमग्न होकर खड़े थे। एक ग्वाला आया और वहाँ अपने बैलों को छोड़ गया। जब वह लौटा तो बैल वहाँ नही थे। भगवान को बैलों के वहाँ होने और न होने की किसी भी स्थिति का भान नहीं था। ध्यानस्थ भगवान से ग्वाले ने बैलों के विषय में प्रश्न किये, किन्तु भगवान ने कोई उत्तर नही दिया। वे तो ध्यानलीन थे। क्रोधान्ध होकर ग्वाला कहने लगा कि इस साधु को कुछ सुनाई नहीं देता, इसके कान व्यर्थ हैं। इसके इन व्यर्थ के कर्णरंध्रों को मैं आज बन्द ही कर देता हूँ। और भगवान के दोनों कानों में उसने काष्ठ शलाकाएँ ठूंस दीं। कितनी घोर यातना थी? कैसा दारुण कष्ट भगवान को हुआ होगा, किन्तु वे सर्वथा धीर बने रहे। उनका ध्यान तनिक भी नहीं डोला। ध्यान की सम्पूर्ति पर भगवान मध्यमा नगरी मे भिक्षा हेतु जब सिद्धार्थ वणिक के यहाँ पहुंचे तो वणिक के वैद्य खरक ने इन शलाकाओं को देखकर भगवान द्वारा अनुभूत कष्ट का अनुमान किया और सेवाभाव से प्रेरित होकर उसने कानों से शलाकाओं को बाहर निकाला।

साढ़े १२ वर्ष की साधना-अवधि में भगवान को होने वाला यह सबसे बड़ा उपसर्ग था। इसमें इन्हें अत्यधिक यातना भी सहनी पड़ी। संयोग की ही बात है कि उपसर्गों का आरम्भ और समाप्ति दोनों ही ग्वाले के बैलों से सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों से हुई।

अद्भुत अभिग्रह : चन्दनबाला प्रसंग

प्रव्रज्या से केवलज्ञान-प्राप्ति तक की अवधि (साधना-काल) भगवान महावीर के लिए घोर कष्टमय रही। इन उपसर्गों मे प्राकृतिक आपदाएँ भी थी और दुर्जन-कृत परिस्थितियाँ भी। इन्हें समता के भाव के साथ झेलने की अपूर्व सामर्थ्य थी भगवान में। आहार-विषयक नियंत्रण मे भी भगवान बहुत आगे थे। निरन्न रहकर महिनों तक वे साधनालीन रह लेते थे। एक अभिग्रह-प्रसंग तो बड़ा ही विचित्र है, जो भगवान के आत्म-नियन्त्रण का परिचायक भी है।

प्रभु ने एक बार १३ बोलों का विकट अभिग्रह किया, जो इस प्रकार था—अविवाहिता नृप कन्या हो जो निरपराध एवं सदाचारिणी हो—तथापि वह बन्दिनी

हो, उसके हाथों में हथकड़ियाँ व पैरों में बेड़ियाँ हों—वह मुण्डित शीष हो—वह ३ दिनों से उपोषित हो—वह खाने के लिए सूप में उबले हुए बाकुले लिए हुए हो—वह प्रतीक्षा में हो, किसी अतिथि की—वह न घर मे हो, न बाहर—वह प्रसन्न वदना हो—किन्तु उसके नेत्र अश्रु पूरित हों।

यदि ऐसी अवस्था मे वह नृप कन्या अपने भोजन में से मुझे भिक्षा दे, तो मैं आहार करूँगा अन्यथा ६ माह तक निराहार ही रहूँगा—यह अभिग्रह करके भगवान यथाक्रम विचरण करते रहे और श्रद्धालुजन नाना खाद्य पदार्थों की भेंट सहित उपस्थित होते, किन्तु वे उन्हे अभिग्रह के अनुकूल न पाकर अस्वीकार करके आगे बढ़ जाते थे। इस प्रकार ५ माह २५ दिन का समय निराहार ही बीत गया। और तब चन्दन बाला (चन्दना) से भिक्षा ग्रहण कर भगवान ने आहार किया। अभिग्रह की सारी परिस्थिति तभी पूर्ण हुई थी।

चन्दना चम्पा-नरेश दधिवाहन की राजकुमारी थी। कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया था और विजयी सैनिक लूट के माल के साथ रानी और राजकुमारी को भी उठा लाये थे। मार्ग मे रथ से कूदकर माता ने तो आत्मघात कर लिया, किन्तु सैनिक ने चन्दना को कौशाम्बी लाकर नीलाम कर दिया। सेठ धनावह उसे क्रय कर घर ले आया। धनावह का चन्दना पर अतिशय पवित्र स्नेह था, किन्तु उसकी पत्नी के मन मे उत्पन्न होने वाली शंकाओं ने उसे चन्दना के प्रति ईर्ष्यालु बना दिया था। सेठानी ने चन्दना के सुन्दर केशों को कटवा दिया, उसके हाथ-पैरों मे शृंखलाएँ डलवा दी और उसे तहखाने मे डाल दिया। उसे भोजन भी नही दिया गया। धनावह सेठ को ३ दिन के पश्चात् जब चन्दना की इस दुर्दशा का पता लगा तो उसके हृदय में करुणा उमड़ पड़ी। वह तुरन्त घर गया और पाया कि सारी खाद्य सामग्री भण्डार मे बन्द है। अतः बाकुले उबालकर उसने चन्दना को एक सूप में रखकर खाने को दिये।

चन्दना भोजन के लिए वह सूप लेकर बैठी ही थी कि श्रमण भगवान का उस मार्ग से आगमन हुआ। भगवान को भेंट करने की कामना उसके मन मे भी प्रबल हो उठी, किन्तु जो सामग्री उसके पास थी वह कितनी तुच्छ है—इसका ध्यान आने पर उसके नेत्रो में अश्रु झलक आये। प्रभु-दर्शन से उसे अतीव हर्ष हुआ और यह आभ्यन्तरिक हर्षभाव अत्यन्त कोमलता के साथ उसके मुखमण्डल पर प्रतिबिम्बित हो गया। उसने श्रद्धा और भक्तिभाव के साथ भगवान से आहार स्वीकार करने का निवेदन किया। भगवान का अभिग्रह पूर्ण हो रहा था अतः उन्होंने चन्दना की भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना के मन में हर्ष का अतिरेक तो हुआ ही, साथ ही एक जागृति भी उसमे आयी। विगत कष्ट और अपमानपूर्ण जीवन का स्मरण कर उसके मन मे वैराग्य उदित हो गया। यही चन्दना आगे चलकर भगवान की शिष्यमण्डली में एक प्रमुख साध्वी हुई।

गोशालक प्रसंग

वैभवशाली नालन्दा के आज जहाँ अवशेष है वहाँ कभी राजगृह का विशाल अंचल था। भगवान का चातुर्मास इसी क्षेत्र में था। संयम ग्रहण करने की अभिलाषा से एक युवक यहाँ भगवान के चरणों में उपस्थित हुआ। उसके इस आशय पर भगवान ने अपने निर्णय को व्यक्त नहीं किया, किन्तु युवक गोशालक ने तो प्रभु का ही आश्रय पकड़ लिया था। प्रभु समदृष्टि थे—उनके लिए कोई शुभ अथवा अशुभ न था, किन्तु गोशालक दूषित मनोवृत्ति का था। स्वयं चोरी करके भगवान की ओर संकेत कर देने तक में उसे कोई संकोच नहीं होता था। करुणासिन्धु भगवान महावीर पर भला इसका क्या प्रभाव होता? उनके चित्त में गोशालक के प्रति कोई दुर्विचार भी कभी नहीं आया। भगवान वन मे विहार कर रहे थे, गोशालक भी उनका अनुसरण कर रहा था। उसने वहाँ एक साधु के प्रति दुर्विनीत व्यवहार किया और कुपित होकर साधु ने तेजोलेश्या का प्रहार गोशालक पर कर दिया। प्राणो के भय से वह भगवान से रक्षा की प्रार्थना करने लगा। करुणा की प्रतिमूर्ति भगवान ने शीतलेश्या के प्रभाव से उस तेजोलेश्या को शान्त कर दिया। अब तो गोशालक तेजोलेश्या की विधि बताने के लिए भगवान से बार-बार अनुनय करने लगा और भगवान ने उस पर यह कृपा कर दी। वह तो दुष्ट-प्रवृत्ति का था ही। संहार साधन पाकर उसने भगवान का आश्रय त्याग दिया और तेजोलेश्या की साधना में ही लग गया।

केवलज्ञान-प्राप्ति

भगवान की यह सत् साधना अन्ततः सफल हुई और वैशाख सुदी दशमी को ऋजुबालिका नदी के तट पर स्थित एक वन में शालवृक्ष तले जब वे गोदोहन-मुद्रा में उकडूं बैठे ध्यानलीन थे तभी उन्हें दुर्लभ केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। उनका आन्तरिक जगत आलोकपूर्ण हो गया। ४२ वर्षीय भगवान महावीर स्वामी के समक्ष सत्य अपने सारे आवरण छिन्न कर मौलिक रूप में प्रकट हो गया था। वे जिज्ञासाएँ अब तुष्ट हो गयी थीं, जिनके लिए वे अब तक व्यग्र थे। जीवन और जगत के प्रश्न अब उनके मानस में उत्तरित हो गये थे, जिनके निदान की उन्हें साध थी। अब केवली भगवान सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञ हो गये थे।

प्रथम धर्मदेशना

भगवान को केवलज्ञान की उत्पत्ति होते ही देवो ने पंच दिव्यों की वर्षा की और प्रभु की सेवा में उपस्थित होकर उनकी वन्दना तथा ज्ञान का महिमा-गान किया। देवताओं द्वारा भव्य समवसरण की रचना की गयी। मानवों की इस सभा में अनुपस्थिति थी, मात्र देवता ही उपस्थित थे, अतः भगवान की इस प्रथम देशना में किसी ने संयम स्वीकार नही किया। देवता तो भोग प्रवृत्ति के और अप्रत्याख्यानी होते हैं। त्याग-मार्ग का अनुसरण उनके लिए संभव नहीं होता। तीर्थंकर परम्परा में प्रथम देशना का इस प्रकार प्रभाव शून्य होने का यह असामान्य और प्रथम ही प्रसंग था।

मध्यपावा में समवसरण

देवताओं द्वारा आयोजित समवसरण के विसर्जन पर भगवान का आगमन मध्यमपावा नगरी मे हुआ। यहाँ पुनः विराट और अति भव्य समवसरण रचा गया। देव-दानव व मानवों की विशाल परिषद के मध्य भगवान स्फटिक आसन पर विराजित हुए और लोकभाषा में उन्होने धर्मदेशना दी।

उन्ही दिनो इस नगर में एक महायज्ञ का भी आयोजन चल रहा था। आर्य सोमिल इस यज्ञ के प्रमुख अधिष्ठाता थे। देश भर के प्रख्यात ११ विद्वान इसमें सम्मिलित हुए थे। एक प्रकार से इस महायज्ञ और भगवान के समवसरण से यह नगर दो सस्कृतियो, धर्म-पन्थों और विचारधाराओं का संगम-स्थल हो गया था। भगवान की देशना सरल भाषा में थी और सामयिक समस्याओं के नवीनतम निदान लिए हुए थी। पंडितों के प्रवचन अप्रचलित संस्कृत मे थे और आडम्बरपूर्ण, पुरातन और असामयिक होने के कारण उनके विषय भी अग्राह्य थे।

प्रभु जीव-अजीव, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष, लोक-अलोक, आस्रव-संवर आदि की अत्यन्त सरल व्याख्या कर जन-जन को प्रतिबोधित कर रहे थे। इस देशना से उपस्थित जनों को विश्वास होता जा रहा था कि यज्ञ के नाम पर पशुबलि हिंसा है। प्राणिमात्र से स्नेह रखना, किसी को कष्ट न पहुँचाना, किसी का तिरस्कार न करना आदि नये अनुसरणीय आदर्श उनके समक्ष स्थापित होते जा रहे थे। आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा और उसके लिए मार्ग उन्हें मिल रहा था। इसके लिए पंचव्रत निर्वाह का उत्साह भी उनमें जागने लगा था। ये व्रत थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। भगवान की देशना में स्याद्वाद और अनेकांतवाद की महिमा भी स्पष्ट होती जा रही थी।

उधर यज्ञ में इन्द्रभूति गौतम वेद मन्त्रोच्चार के साथ यज्ञाहुतियाँ देता जा रहा था। अपने पाण्डित्य का उसमें दर्प था। देवताओं के विमानों को आकाशमार्ग में देख कर इन्द्रभूति गौतम का गर्व और अधिक बढ़ गया, किन्तु उसे धक्का तब लगा जब ये विमान यज्ञ-भूमि को पार कर समवसरण स्थल की ओर बढ़ गये। उसके मन में इससे जो हीन भावना जन्मी उसने ईर्ष्या का रूप ले लिया। उसका अभिमान मुखरित होने लगा—"महावीर ज्ञानी नहीं—इन्द्रजालिक है। मैं उसके प्रभाव के थोथेपन को उद्घाटित कर दूँगा। मैं भी वसुभूति गौतम का पुत्र हूँ।" इस दर्प के साथ इन्द्रभूति अपने ५०० शिष्यों के साथ समवसरण स्थल पहुँचा।

भगवान ने उसे सम्बोधित कर कहा कि आप मुझे इंद्रजालिक मानकर मेरे प्रभाव को नष्ट करने के विचार से आये हैं, न! इसके अतिरिक्त 'आत्मा है अथवा नहीं'—इस शंका को भी आप अपने मन में लेकर आये हैं, न! इस कथन से इंद्रभूति पर भगवान का अतिशय प्रभाव हुआ। वह अवाक् रह गया। वैमनस्य और ईर्ष्या

का भाव न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। भगवान ने इंद्रभूति गौतम की समस्त शंकाओं का समाधान कर दिया और वह सन्तुष्ट हो गया।

प्रतिबोधित होकर इंद्रभूति गौतम ने अपने सभी शिष्यों सहित भगवान के चरणों में दीक्षा ग्रहण कर ली। इस घटना की प्रतिक्रिया भी बड़ी तीव्र हुई। पूर्वमत (कि महावीर इंद्रजालिक है) की शेष पंडितों ने इस घटना से पुष्टि होते हुए देखी। वे सोचने लगे कि इंद्रजालिक न होते तो महावीर को इंद्रभूति के मन में विचारों का पता कैसे लगता ? यह भी उनका इंद्रजाल ही है कि जिसके प्रभाव के कारण इंद्रभूति और उनके शिष्य दीक्षित हो गये है। दुगुने वेग से इनमें विरोध का भाव उठा और शास्त्रार्थ में भगवान को परास्त करने के उद्देश्य से अब अग्निभूति आया, किन्तु सत्य-मूर्ति भगवान के समक्ष वह भी टिक नहीं पाया और प्रभावित होकर दीक्षित हो गया। भगवान के प्रभाव की अति भव्य विजय हुई और प्रथम देशना मे ही ग्यारहों दिग्गज पंडित अपने ४४०० शिष्यों सहित भगवान के आश्रय में दीक्षित हो गये। प्रभु का अहिंसा-धर्म अब सर्वमान्य हो गया।

भगवान ने तीर्थ स्थापना की और इन प्रथम ११ शिष्यों को गणधर की गरिमा प्रदान की—

(१) इंद्रभूति गौतम (२) अग्निभूति गौतम
(३) वायुभूति गौतम (४) आर्य व्यक्त
(५) सुधर्मा (६) मण्डित
(७) मौर्यपुत्र (८) अकम्पित
(९) अचलभ्राता (१०) मेतार्य
(११) प्रभास

भगवान के केवली हो जाने की शुभ गाथा सुनकर चन्दना भी कौशाम्बी से इस समवसरण में उपस्थित हुई और भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने साध्वी संघ की प्रथम आर्या होने का गौरव भी प्राप्त किया।

केवली चर्या : धर्म-प्रचार

केवली बनकर भगवान महावीर स्वामी ने आत्म-कल्याण से ही सन्तोष नहीं कर लिया, न ही धर्मानुशासन व्यवस्था का निर्धारण कर वे पीठाध्यक्ष होकर विश्राम करते रहे। परमानन्द का जो मार्ग उन्हें प्राप्त हो गया था, उनका लक्ष्य तो उसका प्रचार करके सामान्य जन को आत्म-कल्याण का लाभ पहुँचाना था। अतः भगवान ने अपना शेष जीवन धर्मोपदेश में व्यतीत करते हुए जनता का मार्ग-दर्शन करने में व्यतीत किया। लगभग ३० वर्षों तक वे गाँव-गाँव और नगर-नगर में विचरण करते हुए असंख्य जनों को प्रतिबोध देते रहे।

भगवान क्रान्तदर्शी थे। देश-काल की परिस्थितियों का सूक्ष्म ज्ञान उन्हें था।

उन्होंने अनुभव किया कि तत्कालीन धर्म-क्षेत्र अनेक मत-मतान्तरों मे विभक्त और परस्पर कलह-ग्रस्त है। अतिवाद का भयंकर रोग भी इन विभिन्न वर्गों को ग्रस रहा था। भगवान ने ऐसी दशा मे अनेकान्तवाद का प्रचार किया। उनके उपदेशों में समन्वय का भाव होता था। कोई भी वस्तु न एकान्त नित्य होती है और न ही एकान्त अनित्य। स्वर्ण एक पदार्थ का नित्य रूप है, विभिन्न आभूषणों के निर्माण द्वारा उसका बाह्य आकार इत्यादि परिवर्तित होता रहता है, तथापि मूलतः भीतर से वह स्वर्ण ही रहता है। आत्मा, पुद्गल आदि की भी यही स्थिति रहती है। मूलतः अपने एक ही स्वरूप का निर्वाह करते हुए भी उनके बाह्य स्वरूप में कतिपय परिवर्तन होते रहते है। मात्र इसी कारण अनेकान्तवादी होकर पारस्परिक विरोध रखना अनौचित्यपूर्ण है। वे सत्य पर आग्रह रखते थे और कहते थे कि परम्परा और नवीन में से किसी का भी अन्धानुकरण करना व्यर्थ है। जिसे हम सत्य और उचित मानें केवल उसी का व्यवहार करें। इन सिद्धांतों से जनता का अनैक्य कम होने लगा और लोग परस्पर समीपतर होने लगे।

भगवान के उपदेशों मे अहिंसा एवं अपरिग्रह भी मुख्य तत्त्व थे। सभी धर्मों मे हिंसा का निषेध है, तथापि यज्ञ के नाम पर जो पशु-बलि की प्रथा थी, वह व्यापक हिंसा का ही रूप थी। भगवान ने इस हिंसा का खुलकर विरोध किया। उनकी अहिंसा का रूप बडा व्यापक था। वे मनुष्य, पशु-पक्षी ही नही वनस्पति तक को कष्ट पहुँचाना हिंसा-वृत्ति के अन्तर्गत मानते थे और अहिंसा को वे परम धर्म की संज्ञा देते थे। उनका कथन होता था कि जब हम किसी को प्राण-दान नहीं दे सकते तो प्राणों का हरण करने का अधिकार हमे कैसे मिल सकता है। क्षमा, दया, करुणा आदि की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए हिंसा का जैसा व्यापक विरोध भगवान ने किया था वह मानव इतिहास में अभूतपूर्व है।

अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रचार करके भगवान ने मनुष्य की संग्रह वृत्ति और लोभ का विरोध किया। इसी दोष ने समाज मे वर्ग-विषमता और दैन्य की उत्पत्ति की है। प्रभु ने इच्छाओं, लालसाओं और आकांक्षाओं के परिसीमन का प्रभावशाली उपदेश दिया और आवश्यकता से अधिक सामग्री के त्याग की प्रेरणा दी। साथ ही दीन-हीनों पर भगवान के उपदेश का यह प्रत्यक्ष लाभ हुआ कि वे श्रमशील और कर्म निष्ठ बनने लगे। एक अद्‌भुत साम्य समाज मे स्थापित होने लगा था।

भगवान महावीर स्वामी ने अपने युग मे प्रचलित भाग्यवाद का भी विरोध किया। ऐसी मान्यता थी कि ईश्वर जिसे जिस स्थिति मे रखना चाहता है—स्वयं वही समय-समय पर उसे वैसा बनाता रहता है। मनुष्य इस व्यवस्था मे हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वह भाग्याधीन है और जैसा चाहे वैसा स्वयं को बना ही नहीं सकता। भगवान ने इस बद्धमूल धारणा का प्रतिकार करते हुए ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का परिचय दिया। आपने बताया कि ईश्वर तो निर्विकार है। वह किसी को कष्ट अथवा

किसी को सुख देने की कामना ही नहीं रखता। ये परिस्थितियाँ तो प्राणी के अपने ही पूर्वकर्मों के फलरूप में प्रकट होती हैं। अपने लिए भावी सुख की नींव मनुष्य स्वयं रख सकता है और शुभकर्म करना उसका साधन है। वह निज भाग्य निर्धारक है।

भगवान का कर्मवाद यह सिद्धांत भी रखता है कि किसी की श्रेष्ठता का निश्चय उसके वंश से नहीं, अपितु उसके कर्मों से ही होता है। कर्म से ही कोई महान् व उच्च हो सकता है और कर्मों से ही नीच व पतित। इस प्रकार जातिवाद पर आधारित कोरे दम्भ को भगवान ने निर्मूल कर दिया और सामाजिक-न्याय की प्रतिष्ठा की।

भगवान शिक्षा दिया करते थे कि नैतिकता, सदाचार और सद्भाव ही किसी मनुष्य को मानव कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। धर्मशून्य मनुष्य प्राणी तो होगा, किन्तु मानवोचित सद्गुणो के अभाव मे उसे मानव नही कहा जा सकता।

अपने इन्ही कतिपय सिद्धातो का प्रचार कर भगवान ने धर्म को संकीर्ण परिधि से मुक्त करके उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध कर दिया। श्रेष्ठ जीवनादर्शों का समुच्चय ही धर्म के रूप मे उनके द्वारा स्वीकृत हुआ। भगवान के सदुपदेशों का व्यापक और गहन प्रभाव हुआ। परिणामतः जहाँ मनुष्य को आत्म-कल्याण का मार्ग मिला, वहीं समाज भी प्रगतिशील और स्वच्छ हुआ। स्त्रियों के लिए भी आत्मोत्कर्ष के मार्ग को भगवान ने प्रशस्त किया और उन्हे समान स्तर पर अवस्थित किया। इस प्रकार व्यक्ति और समग्र दोनो को भगवान की प्रतिभा व ज्ञान-गरिमा से लाभान्वित होने का सुयोग मिला। अपने सर्वजनहिताय और विश्व मानवता के दृष्टिकोण के कारण प्रभु अपनी समग्र केवली चर्या मे सतत भ्रमणशील ही बने रहे और अधिकाधिक जन के कल्याण के लिए सचेष्ट रहे।

गोशालक का उद्धार

भगवान का २७वाँ वर्षावास श्रावस्ती नगर मे था। सयोग से दुष्ट प्रयोजन से तेजोलेश्या की उपासना मे लगा हुआ गोशालक भी उन दिनों श्रावस्ती में ही था। लगभग १६ वर्ष बाद भगवान और उनका यह तथाकथित शिष्य एक ही स्थान पर थे। अब गोशालक भगवान महावीर का प्रतिरोधी था और स्वयं को तीर्थंकर कहा करता था। इन्द्रभूति गौतम ने जब नगर में यह चर्चा सुनी कि इस समय श्रावस्ती में दो तीर्थंकर विश्राम कर रहे हैं—तो उसने भगवान से प्रश्न किया कि क्या गोशालक भी तीर्थंकर है।

प्रभु ने उत्तर में कहा कि नहीं, वह न सर्वज्ञ है, न सर्वदर्शी। एक आडम्बर खड़ा करके वह अपनी प्रतिष्ठा बढाने में लगा हुआ है। इस कथन से जब गोशालक अवगत हुआ तो उसे प्रचण्ड क्रोध आया और भगवान के शिष्य आनन्द मुनि से उसने कहा कि मैं अब महावीर का शिष्य नहीं रहा। अपनी स्वतंत्र गरिमा रखता हूँ, मैं।

महावीर ने मेरे प्रति जन-मानस को विकृत किया है, किन्तु मैं भी इसका प्रतिशोध पूरा करके ही दम लूंगा।

क्रोधावेशयुक्त गोशालक भगवान के पास आया और उन्हें बुरा-भला कहने लगा। भगवान के शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्र इसे सहन नहीं कर पाये और उन्होंने गोशालक का प्रतिरोध किया। दुष्ट गोशालक ने तेजोलेश्या का प्रहार कर इन दोनों को भस्म कर दिया और तब उसने यही प्रहार भगवान पर भी कर दिया। उसकी तेजोलेश्या भगवान के पास पहुंचने के पूर्व ही लौट गयी और स्वयं गोशालक की ओर बढ़ी।

समता के अवतार प्रभु इस समय भी क्षमा की भावना से ओतप्रोत थे। उन्होंने गोशालक को सम्बोधित करते हुए कहा कि मेरा आयुष्य तो निश्चित है—कोई उसे बढा-घटा नहीं सकता किन्तु तेरा जीवन-मात्र ७ दिन का ही शेष रह गया है। अतः सत्य को समझ और उसके अनुकूल व्यवहार कर। आवेश में होने के कारण उस समय उस पर भगवान की वाणी का प्रभाव नही हुआ, किन्तु अन्त समय में उसे अपने कुकृत्यों पर घोर दुःख होने लगा। आत्म-ग्लानि की ज्वालाओं में वह दग्ध होने लगा। उसने अपने समस्त शिष्यों के समक्ष स्वीकार किया कि भगवान महावीर का विरोध करके मैंने घोर पाप किया है। इसका यही प्रायश्चित है कि मरणोपरान्त मेरे शव को श्रावस्ती के मार्गों पर घसीटा जाय। इससे सभी मेरे दुष्कर्मों से अवगत हो सकेंगे। उसने अपने शिष्यों को भगवान की शरण में जाने का निर्देश भी दिया।

सातवें दिन गोशालक का देहान्त हो गया। प्रायश्चित्त ने उसके कर्म-बन्धनों से उसे मुक्त कर दिया और अंतिम शुभ भावों के कारण उसे सद्गति प्राप्त हुई।

परिनिर्वाण

प्रभु का आयुष्य ७२ वर्ष का पूर्ण हो रहा था और ईसा पूर्व ५२७ का यह वर्ष था। भगवान का ४२वां वर्षावास पावापुर में चल रहा था। प्रभु अपना निर्वाण समय समीप अनुभव कर निरन्तर रूप से दो दिन तक उपदेश देते रहे। ९ लिच्छवी, ९ मल्ल और काशी कौशल के १८ नरेश वहां उपस्थित थे, जो सभी पौषध व्रत के साथ उपदेशामृत का पान कर रहे थे। असंख्य जन भगवान के दर्शनार्थ एकत्रित थे। भगवान के अन्तिम उपदेश से ये सभी कृतकृत्य हो रहे थे।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि का अन्तिम प्रहर और स्वाति नक्षत्र का शुभयोग था—तब भगवान महावीर स्वामी ने समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद की प्राप्ति करली। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान के परिनिर्वाण के समय उनके परम शिष्य और प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम वहां उपस्थित नहीं थे। वे समीपवर्ती किसी ग्राम में थे। भगवान का परिनिर्वाण और गौतम को केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति एक ही रात्रि में हुई। इन

दोनों शुभ पर्वों का आयोजन दीपमालाएँ सजाकर किया गया था और इन्हीं शुभाव-सरों की स्मृति में इस दिन प्रतिवर्ष प्रकाश उत्सव आयोजित करने की परम्परा चल पड़ी, जो आज भी दीपावली के रूप में विद्यमान है। रात्रि के अंतिम प्रहर में गौतम केवली हुए इसलिए अमावस्या का दूसरा दिन गौतम प्रतिपदा के रूप में आज भी मनाया जाता है।

धर्म-परिवार

भगवान महावीर स्वामी द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ के अन्तर्गत धर्म परिवार इस प्रकार था—

गणधर	११
केवली	७००
मनःपर्यवज्ञानी	५००
अवधिज्ञानी	१,३००
चौदह पूर्वधारी	३००
वादी	१,४००
वैक्रियलब्धिधारी	७००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	७००
साधु	१४,०००
साध्वी	३६,०००
श्रावक	१,५६,०००
श्राविका	३,१८,०००

परिशिष्ट

जन्म-वंश सम्बन्धी तथ्य

क्रम	तीर्थंकर नाम	जन्म स्थान	जन्म तिथि	पिता
१	भगवान ऋषभदेव	विनीता नगरी	चैत्र कृष्णा ८	राजा नाभिराज
२	भगवान अजितनाथ	विनीता नगरी	माघ शुक्ला ८	राजा जितशत्रु
३	भगवान संभवनाथ	श्रावस्ती नगर	मृगशिर शु. १४	राजा जितारि
४	भगवान अभिनन्दननाथ	अयोध्या	माघ सुदि २	राजा संवर
५	भगवान सुमतिनाथ	अयोध्या	वै. शु. ८	राजा मेघराज
६	भगवान पद्मप्रभ	कौशाम्बी	का. कृ. १२	राजा धर
७	भगवान सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	ज्येष्ठ शु. १२	राजा प्रतिष्ठ
८	भगवान चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	पौष कृ. १२	राजा महासेन
९	भगवान सुविधिनाथ	काकन्दी नगरी	मृगशिर कृ. ५	राजा सुग्रीव
१०	भगवान शीतलनाथ	भद्दिलपुर	माघ कृ. १२	राजा दृढ़रथ
११	भगवान श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	फा. कृ. १२	राजा विष्णु
१२	भगवान वासुपूज्य	चम्पानगरी	फा. कृ. १४	राजा वसुपूज्य
१३	भगवान विमलनाथ	कंपिलपुर	माघ शु. ३	राजा कृतवर्मा
१४	भगवान अनन्तनाथ	अयोध्या	वै. कृ. १३	राजा सिंहसेन
१५	भगवान धर्मनाथ	रत्नपुर	माघ शु. ३	राजा भानु
१६	भगवान शान्तिनाथ	हस्तिनापुर	ज्येष्ठ कृ. १३	राजा विश्वसेन
१७	भगवान कुन्थुनाथ	हस्तिनापुर	वै. कृ. १४	राजा शूरसेन
१८	भगवान अरनाथ	हस्तिनापुर	मृ. शु. १०	राजा सुदर्शन
१९	भगवान मल्लिनाथ	मिथिला	मृ० शु. ११	राजा कुम्भ
२०	भगवान मुनिसुव्रतनाथ	राजगृह	ज्येष्ठ कृ. ८	राजा सुमित्र
२१	भगवान नमिनाथ	मिथिला	श्रा. कृ. ८	राजा विजय
२२	भगवान अरिष्टनेमि	सोरियपुर	श्रा. शु. ५	राजा समुद्रविजय
२३	भगवान पार्श्वनाथ	वाराणसी	पौष कृ. १०	राजा अश्वसेन
२४	भगवान महावीर	कुण्डपुर	चैत्र शु. १३	राजा सिद्धार्थ

एवं व्यक्तित्व तथा आयु तालिका

माता	चिह्न	शरीर मान	वर्ण	आयु
रानी मरुदेवा	वृषभ	५०० धनुष	तपे सोने सा गौर	८४ लाख पूर्व वर्ष
रानी विजयादेवी	हाथी	४५० ,,	,,	७२ ,,
रानी सेनादेवी	अश्व	४०० ,,	,,	६० ,,
सिद्धार्था रानी	कपि	३५० ,,	,,	५० ,,
मंगला रानी	क्रौंचपक्षी	३०० ,,	,,	४० ,,
सुसीमा रानी	पद्म	२५० ,,	लाल	३० ,,
पृथ्वी रानी	स्वस्तिक	२०० ,,	तपे सोने सा गौर	२० ,,
लक्ष्मणा रानी	चन्द्रमा	१५० ,,	गौर श्वेत	१० ,,
रामा रानी	मकर	१०० ,,	,,	२ ,,
रानी नन्दा	श्रीवत्स	९० ,,	तपे सोने सा गौर	१ ,,
रानी विष्णुदेवी	गेंडा	८० ,,	,,	८४ लाख वर्ष
रानी जया	महिष	७० ,,	लाल	७२ ,,
रानी श्यामादेवी	शूकर	६० ,,	तपे सोने सा गौर	६० ,,
रानी सुयशा	बाज	५० ,,	,,	३० ,,
रानी सुव्रतादेवी	वज्र	४५ ,,	,,	१० ,,
रानी अचिरादेवी	मृग	४० ,,	,,	१ ,,
रानी श्रीदेवी	छाग	३५ ,,	,,	९५ हजार वर्ष
रानी महादेवी	स्वस्तिक	३० ,,	,,	८४ ,,
रानी प्रभावती	कलश	२५ ,,	नील वर्ण (प्रियंगु)	५५ ,,
रानी पद्मावती	कूर्म (कछुआ)	२० ,,	काला	३० ,,
रानी वप्रादेवी	कमल	१५ ,,	तपे सोने सा गौर	१० ,,
रानी शिवादेवी	शंख	१० ,,	काला (श्याम)	१ ,,
रानी वामादेवी	नाग	९ हाथ	नील (प्रियंगु)	१०० वर्ष
रानी त्रिशला	सिंह	७ हाथ	तपे सोने सा गौर	७२ ,,

साधक जीवन : तथ्य-तालिका

क्रम	तीर्थंकर नाम	दीक्षाग्रहण	केवलज्ञान	परिनिर्वाण	गणधर
१	भगवान ऋषभदेव	चैत्र कृष्णा ८	फा. कृ. ११ वटवृक्ष तले	मा. कृ. १३ अष्टापद पर्वत पर	८४
२	भगवान अजितनाथ	माघ शुक्ला ९	पौष शुक्ला ११	चैं. शु. ५ सम्मेत शिखर पर	९५
३	भगवान संभवनाथ	मृगशिर सुदी १५	कार्तिक कृष्णा ५	चैत्र शुक्ला ५	१०२
४	भगवान अभिनन्दननाथ	माघ शुक्ला १२	पौष शुक्ला १४	वैशाख शुक्ला ८	११६
५	भगवान सुमतिनाथ	वैशाख शुक्ला ९	चैत्र शुक्ला ११	चैत्र शुक्ला ९	१००
६	भगवान पद्मप्रभ	कार्तिक कृष्णा १३	चैत्र सुदी १५	मृगशिर कृष्णा ११	१०७
७	भगवान सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन शुक्ला ६	फाल्गुन कृष्णा ७	९५
८	भगवान चन्द्रप्रभ	पौष कृष्णा १३	फाल्गुन कृष्णा ७	भाद्रपद कृष्णा ७	९३
९	भगवान सुविधिनाथ	मृगशिर कृष्णा ६	कार्तिक शुक्ला ३	भाद्रपद कृष्णा ९	८८
१०	भगवान शीतलनाथ	माघ कृष्णा १२	पौष कृष्णा १४	वैशाख कृष्णा २	८१
११	भगवान श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृष्णा १३	माघ कृष्णा ३०	श्रावण कृष्णा ३	७६
१२	भगवान वासुपूज्य	फाल्गुन कृष्णा ३०	माघ शुक्ला २	आषाढ़ शुक्ला १४	६६
१३	भगवान विमलनाथ	माघ शुक्ला ४	पौष शुक्ला ६	आषाढ कृष्णा ७	५६
१४	भगवान अनन्तनाथ	वैशाख कृष्णा १४	वैशाख कृष्णा १४	चैत्र शुक्ला ५	५०
१५	भगवान धर्मनाथ	माघ शुक्ला १३	पौष शुक्ला १५	ज्येष्ठ शुक्ला ५	४३
१६	भगवान शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृष्णा १४	पौष शुक्ला ९	ज्येष्ठ कृष्णा १३	९०
१७	भगवान कुन्थुनाथ	वैशाख कृष्णा ५	चैत्र शुक्ला ३	वैशाख कृष्णा १	३५
१८	भगवान अरनाथ	मार्गशीर्ष शुक्ला ११	कार्तिक शुक्ला १२	मार्गशीर्ष शुक्ला १०	३३
१९	भगवान मल्लिनाथ	मृगशिर शुक्ला ११	मृगशिर शुक्ला ११	चैत्र शुक्ला ४	२८
२०	भगवान मुनिसुव्रत	फाल्गुन शुक्ला १२	फाल्गुन कृष्णा १२	ज्येष्ठ कृष्णा ९	१८
२१	भगवान नमिनाथ	आषाढ़ कृष्णा ९	मृगशिर शुक्ला ११	वैशाख कृष्णा १०	१७
२२	भगवान अरिष्टनेमि	श्रावण शुक्ला ६	आश्विन कृष्णा ३०	आषाढ शुक्ला ८	१८
२३	भगवान पार्श्वनाथ	पौष कृष्णा ११	चैत्र कृष्णा ४	श्रावण शुक्ला ८	१०
२४	भगवान महावीर	चैत्र शुक्ला १३	मृगशिर कृष्णा १०	कार्तिक कृष्णा ३०	११

तीर्थंकरों के मध्य अन्तराल

क्रम	विवेच्य अवधि	अन्तराल-काल
	भगवान ऋषभदेव का निर्वाण : तीसरे आरे के ३ वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने की स्थिति में—	
१	ऋषभदेव व अजितनाथ के मध्य	५० लाख करोड़ सागर
२	अजितनाथ एवं संभवनाथ के मध्य	३० „ „ „
३	संभवनाथ व अभिनन्दननाथ के मध्य	१० „ „ „
४	अभिनन्दननाथ एवं सुमतिनाथ के मध्य	६ „ „ „
५	सुमतिनाथ एवं पद्मप्रभ के मध्य	६० हजार „ „
६	पद्मप्रभ एवं सुपार्श्वनाथ के मध्य	६ „ „ „
७	सुपार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभ के मध्य	६ सौ „ „
८	चन्द्रप्रभ एवं सुविधिनाथ के मध्य	६० „ „
९	सुविधिनाथ एवं शीतलनाथ के मध्य	६ „ „
१०	शीतलनाथ एवं श्रेयांसनाथ के मध्य	६६ लाख २६ हजार १ सौ सागर कम एक करोड़ सागर
११	श्रेयांसनाथ एवं वासुपूज्य के मध्य	५४ सागर
१२	वासुपूज्य एवं विमलनाथ के मध्य	३० „
१३	विमलनाथ एवं अनन्तनाथ के मध्य	६ „
१४	अनन्तनाथ एवं धर्मनाथ के मध्य	४ „
१५	धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ के मध्य	पौन पल्योपम ३ सागर
१६	शान्तिनाथ एवं कुन्थुनाथ के मध्य	अर्द्ध पल्य
१७	कुन्थुनाथ एवं अरनाथ के मध्य	१ हजार करोड़ वर्ष कम पाव पल्य
१८	अरनाथ एवं मल्लिनाथ के मध्य	१ हजार करोड़ वर्ष
१९	मल्लिनाथ एवं मुनिसुव्रतनाथ के मध्य	५४ लाख वर्ष
२०	मुनिसुव्रतनाथ एवं नमिनाथ के मध्य	६ „ „
२१	नमिनाथ एवं अरिष्टनेमि के मध्य	५ „ „
२२	अरिष्टनेमि एवं पार्श्वनाथ के मध्य	८३७५० वर्ष
२३	पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी के मध्य	२५० वर्ष

प्रस्तुत ग्रन्थ में सहायक ग्रन्थ-सूची

१ कल्पसूत्र
२ आवश्यक निर्युक्ति
३ आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति
४ आवश्यक मलयगिरिवृत्ति
५ चउप्पन्न महापुरिसचरियं
६ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित
७ महापुराण
८ उत्तरपुराण
९ जैनधर्म का मौलिक इतिहास
१० ऋषभदेव : एक परिशीलन
११ भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन
१२ भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
१३ भगवान महावीर : एक अनुशीलन

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. भगवान महावीर : एक अनुशीलन	४०)
२. भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन	५)
३. भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण	१०)
४. भगवान ऋषभदेव : एक परिशीलन (द्वि. सं.)	१५)
५. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण	१०)
६. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण	३०)
७. भगवान महावीर की दार्शनिक चर्चाएँ	२५)
८. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा	२५)
९. धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आंगन मे	२५)
१०. महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएँ	१२)
११. कल्पसूत्र : एक विवेचन	२०)
१२. साहित्य और संस्कृति	१२)
१३. धर्म और दर्शन	५)
१४. चिन्तन की चांदनी	४)
१५. विचार रश्मियां	७)
१६. अनुभूति के आलोक में	४)
१७. विचार और अनुभूतियां	२)
१८. खिलती कलियां : मुस्कुराते फूल	३)५०
१९. प्रतिध्वनि	३)५०
२०. फूल और पराग	१)५०
२१. बोलते चित्र	१)५०
२२. अतीत के उज्ज्वल चरित्र	२)
२३. महकते फूल	२)
२४. बिन्दु में सिन्धु	२)
२५. अमिट रेखाएँ	२)
२६. विचार-वैभव	२)
२७. राजस्थान केसरी : जीवन और विचार	७)
२८. संस्कृति के अंचल में	२)
२९. ओंकार : एक अनुचिन्तन	२)
३०. श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र	२)
३१. बुद्धि के चमत्कार	१)५०
३२. अतीत के कम्पन	२)
३३. महावीर : जीवन और दर्शन	२)
३४. जैन कथाएँ (२५ भाग) प्रत्येक भाग	३)